प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 58

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग-7

बौद्ध धर्म दर्शन से सम्बधित आलेख

बौद्ध धर्म एवं दर्शन

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण

प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.

प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.

प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.

प.पू.अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक 58
सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - 7

बौद्ध धर्म दर्शन से सम्बंधित आलेख

लेखक
डॉ. सागरमल जैन, एम.ए., पीएच.डी.
निदेशक- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग -7

बौद्ध धर्म दर्शन से सम्बंधित आलेख

लेखक :
डॉ. प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)
फोन नं. 07364 - 22218
email - sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2017

कापीराइट - लेखक डॉ. सागरमल जैन

मूल्य - रुपए 200/-

सम्पूर्ण सेट (लगभग 25 भाग) - 5000/-

मुद्रक – आकृति ऑफसेट, नई पेठ, उज्जैन (म.प्र.)

विषय सूची

बौद्ध धर्म एवं दर्शन	1
बौद्ध एवं जैन प्रमाणमीमांसा	19
विभज्यवाद भाषा विश्लेषण का पूर्वरुप	37
बुद्ध व्यक्ति नहीं प्रक्रिया	41
बौद्ध अनात्मवाद की सम्यक् समझ आवश्यक	45
बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना	53
धर्म निरपेक्षता और बौद्ध धर्म	63
महायान सम्प्रदाय की समन्वयात्मक जीवन दृष्टि	71
बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अनुवाद में पं. राहुलजी के जैन धर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समीक्षा	83
बौद्ध और जैन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या	90
परमसुख की साधना	96

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन जैन विद्या एवं भारतीय विद्याओं के बहुश्रुत विद्वान हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत 50 वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रंथों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः उनके लगभग 100 आलेख सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ में और लगभग 120 आलेख - श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा 'जैन धर्म एवं संस्कृति' के नाम से सात भागों में प्रकाशित हुए हैं। किंतु डॉ. जैन के लेखों की संख्या ही 320 से अधिक हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत तथा जैन धर्म और संस्कृति से सम्बंधित अनेक ग्रंथ की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी हैं। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप से बिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है, उनके अनेक ग्रंथ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहे हैं, किंतु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री को समाहित कर प्रकाशित करना हमारे लिए सम्भव नहीं था- साध्वीवर्या सौम्यगुणा श्री जी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके वीकीर्ण आलेखों को ही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाए। उनकी यह प्रेरणा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी और हमने डॉ. सागरमल जैन के आलेखों को संग्रहित करने का प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किंतु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा- उतना ही प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिंट होती थी, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों से मुद्रित होती थी, उनसब को एक साइज में और एक ही फॉण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था- अतः उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रुफरीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य में सहयोग किया श्री दिलीप नागर ने एवं प्रुफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया- श्री चैतन्य जी सोनी एवं श्री नरेन्द्र जी गौड़ हम इनके एवं मुद्रांक आकृति ऑफसेट उज्जैन के साथ-साथ इन सभी के आभारी हैं।

नरेंद्र जैन

एवं ट्रस्ट मण्डल प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

बौद्ध धर्म एवं दर्शन

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। इसमें ब्राह्मणों और श्रमणों का समान अवदान है। बौद्ध धर्म-दर्शन श्रमणधारा का एक प्रमुख अंग है। भारतीय श्रमण परम्परा का उल्लेख वैदिक काल से ही उपलब्ध होने लगता है। वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथों में से है। ऋग्वेद में हमें बार्हतों के साथ-साथ आर्हतों एवं व्रात्यों के भी उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में आर्हत-बार्हत ऐसी दो धाराओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है वेदकालीन आर्हतों और व्रात्यों की यह परम्परा ही कालान्तर में श्रमणधारा के रूप में विकसित हुई है। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो औपनिषदिक चिंतन प्राचीन वैदिक एवं श्रमण चिंतन का समन्वय स्थल है।

मात्र यही नहीं औपनिषदिक चिंतन में श्रमणधारा के अनेक तथ्य स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं, जो यह बताते हैं कि इस युग में वैदिकधारा श्रमणधारा से, विशेष रूप से उसकी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से, प्रभावित हो रही थी। आरण्यकों के काल से ही वैदिक श्रमणधारा से प्रभावित होकर अपने चिंतन में श्रमणधारा के आध्यात्मिक मूल्यों को आत्मसात कर रहे थे। त्याग-वैराग्यमूलक जीवन-मूल्यों, संन्यास एवं निर्वाण के प्रत्ययों को आत्मसात करके वैदिक संस्कृति में आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का विकास हो रहा था। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी सम्पत्ति को दोनों पत्नियों में विभाजित कर लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा का त्यागकर संन्यास ग्रहण करने और भिक्षाचर्या द्वारा जीवनयापन करने का जो निर्देश उपलब्ध होता है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वैदिकधारा श्रमणधारा के जीवन मूल्यों को आत्मसात कर एक नव आध्यात्मिक संस्कृति को जन्म दे रही थी। उपनिषदों में यज्ञ-याग की समालोचना एवं ईशावास्योपनिषद् का त्यागमूलक भोग का निर्देश इस बात का प्रमाण है कि उपनिषद श्रमणधारा के चिंतन को आत्मसात कर रहे थे। सांख्य-योग की ध्यान एवं योग की परम्परा एवं महाभारत और गीता में हिंसापरक यज्ञों के स्थान पर प्राणीमात्र की सेवारूप भूत-यज्ञ का प्रतिपादन तथा तीर्थ, स्नानादि अनेक वैदिक कर्मकाण्डों को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना वैदिकधारा के श्रमणधारा के साथ समन्वित होने का परिणाम था।

यह भारतीय श्रमणधारा भी कालांतर में विभिन्न रूपों में विभाजित होती रही है। इसके कुछ संकेत हमें प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रंथों से मिल जाते हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध

प्राचीन जैन ग्रंथ इसिभासियाइं एवं सूत्रकृतांगसूत्र और बौद्ध ग्रंथ थेरगाथा एवं सुत्तनिपात में अनेक औपनिषदिक ऋषियों का सम्मानपूर्वक उल्लेख मिलता है। इसिभासियाइं में जो पैतालीस ऋषियों के उल्लेख हैं, उनमें नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, आरुणी, उद्दालक आदि औपनिषदिक ऋषियों को अर्हत् कहकर उन्हें अपनी श्रमण परम्परा को सम्बद्ध बताया गया है, इसी प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र में असितदेवल, पाराशर, रामपुत्त आदि को आचारगत विभिन्नता के बावजूद भी अपनी परम्परा से सम्मत एवं सिद्धि को प्राप्त बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रमणधारा भारतीय चिंतन की एक व्यापक धारा रही है। जैन ग्रंथों में पांच प्रकार के श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं- (1) निर्ग्रन्थ, (2) शाक्यपुत्रीय (बौद्ध), (3) आजीवक, (4) गैरिक और (5) तापस। तापसों एवं गैरिक (गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासियों) को श्रमण कहना इस बात का प्रमाण है, हिन्दूधर्म में संन्यास-मार्ग का जो विकास हुआ है, वह श्रमणधारा का ही प्रभाव है। तापसों और गैरिकों की यह परम्परा ही सम्भवतः सांख्य और योगदर्शन की जनक और उनका ही पूर्वरूप हो।

भारतीय श्रमणधारा से विकसित बौद्ध परम्परा के अस्तित्व के उल्लेख हमें वेदों एवं उपनिषदों में तो नहीं मिलते हैं, किंतु हिन्दू पुराणों में बुद्ध और बौद्ध धर्म के उल्लेख हैं। इसके विपरीत जैन आगमों में प्रचीन काल से ही बौद्धों के उल्लेख मिलने लगते हैं। जहां एक ओर पालि त्रिपिटक में निर्ग्रंथों, आजीवकों और तापसों के उल्लेख मिलते हैं, वहीं जैन ग्रंथों में भी शाक्यपुत्रीय श्रमणों (बौद्ध श्रमणों) के उल्लेख मिलते हैं। जैन ग्रंथ इसिभासियाइं में वज्जीयपुत्र, सारिपुत्र और महाकश्यप के उल्लेख उपलब्ध हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में उदकपेढालपुत्त का बौद्ध श्रमणों के साथ संवाद, बौद्धों के पंचस्कन्धवाद एवं संततिवाद की सामान्य समीक्षा भी उपलब्ध होती है। इसी प्रकार दीघनिकाय और सुत्तनिपात में बुद्ध के समकालीन छः तैर्थिकों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र (महावीर) और मंखलि गोशालक प्रमुख हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जहां एक ओर भारतीय धर्म-दर्शन सम्बंधी ग्रंथों में प्राचीनकाल से ही बौद्ध धर्म-दर्शन तथा उसकी तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा सम्बंधी मान्यताओं के निर्देश और उनकी समीक्षा उपलब्ध होती है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध ग्रंथों में भी अन्य धर्म-दर्शनों और उनकी मान्यताओं के उल्लेख मिलते हैं। 1. बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बासठ मिथ्यादृष्टियों के उल्लेख मिलते हैं, वहीं जैनग्रंथों में मेरे अनुसार त्रेसठ मिथ्यादृष्टियों के उल्लेख मिलते हैं। जहां तक जैन ग्रंथों का प्रश्न है

उसमें ऋषिभाषित वज्जीपुत्त, सारिपुत्त और महाकश्यप जैसे बौद्ध परम्परा के ऋषियों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक उल्लेखित करता है और उन्हें अर्हत् ऋषि के रूप में स्वीकार करता है। त्रिपिटक साहित्य में भी हम वर्धमान आदि छः तैर्थिकों के सामान्य सिद्धांतों के उल्लेख के साथ मात्र इतना संकेत पाते हैं कि इनकी मान्यताएं समुचित नहीं हैं। कालान्तर में विशेष रूप से सूत्रयुग में हमें बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षाएं इन सूत्र-ग्रंथों-न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र आदि में उपलब्ध होने लगती हैं।

भारतीय दार्शनिक चिंतन के मूल बीज चाहे औपनिषदिक चिंतन में उपलब्ध हों, किंतु भारत में व्यवस्थित रूप से दार्शनिक प्रस्थानों का प्रादुर्भाव सूत्रयुग से ही देखा जाता है। सूत्रयुग में विभिन्न भारतीय दार्शनिक निकायों ने अपने-अपने सूत्र ग्रंथों का निर्माण किया। जैसे- सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, योगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि। इन ग्रंथों में चिन्तकों ने न केवल अपने-अपने दर्शनों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया हैं, अपितु अन्य दार्शनिक मतों का, उनका नामोल्लेख किए बिना यथावत सूत्र रूप में खण्डन किया है, जैसे योगसूत्र के कैवल्यपाद के 20-21वें सूत्र **'एकसमये चोभयानवधारणम् चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च'** द्वारा बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जहां प्राचीन स्तर के सूत्र ग्रंथों में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद, क्षणिकवाद, संततिवाद आदि का खण्डन मिलता है, वहीं परवर्ती काल के सूत्र ग्रंथों में विज्ञानवाद और शून्यवाद के भी खण्डन के सूत्र मिलने लगते हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि यदि पूर्वक्षण वाले चित्त को उत्तरक्षण वाला चित्त जानता है, तो फिर उत्तरक्षण वाले चित्त को जानने वाले किसी अन्य चित्त की कल्पना करनी होगी और इससे अनवस्था एवं स्मृतियों के सम्मिश्रण सम्बंधी दोष होगा। इसी प्रकार इसी योगसूत्र में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद का भी खण्डन किया गया है।

यदि हम ब्रह्मसूत्र पर विचार करें तो उसके द्वितीय पाद के द्वितीय अध्याय में सूत्र क्रमांक 18 से लेकर 32 तक बौद्ध-दर्शन के पंचस्कंन्धवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इससे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उभर कर यह आता है कि यदि ब्रह्मसूत्र में बौद्धों के शून्यवाद की समालोचना है, तो फिर ब्रह्मसूत्र ईसा की दूसरी शती से पूर्व का नहीं हो सकता है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में शून्यवाद का विकास दूसरी शती से ही देखा जाता है।

इसी प्रकार सांख्यसूत्र (5/52) में बौद्धों के असत्-ख्यातिवाद अर्थात् शून्यवाद का खण्डन किया गया है। इससे सांख्यसूत्र का रचनाकाल भी शून्यवाद के पश्चात् ही मानना होगा। इन संकेतों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रयुग में भारतीय दार्शनिक बौद्धों के क्षणिकवाद, संततिवाद, पंचस्कंधवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद से परिचित हो चुके थे।

सूत्र ग्रंथों की रचना के पश्चात् भारतीय दर्शन-प्रस्थानों में तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणशास्त्र सम्बंधी समीक्षात्मक ग्रंथों का रचनाकाल प्रारम्भ होता है। ईसा की चौथी-पांचवीं शती से लेकर प्रायः बारहवीं-तेरहवीं शती तक तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा सम्बंधी एवं दूसरे दार्शनिक प्रस्थानों की समीक्षा रूप गम्भीर ग्रंथों का प्रणयन तार्किक शैली में हुआ। इन ग्रंथों में अन्य दर्शनों की समीक्षा में उन्हें समझे बिना न केवल बाल की खाल उतारी गई, अपितु उनकी स्थापनाओं को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया कि उनको खण्डित किया जा सके। इस काल में दो प्रकार के ग्रंथों की रचना देखी जाती है- या तो वे किसी सूत्र ग्रंथों की टीका के रूप में लिखे गए या फिर स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में लिखे गए- इन दोनों प्रकार के ग्रंथों में प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान ने स्वपक्ष के मण्डन और विरोधीपक्ष के खण्डन का प्रयास किया। इस युग में भारतीय दार्शनिकों ने जहां एक ओर अपनी कृतियों में बौद्ध अवधारणाओं की समीक्षा की, वहीं बौद्ध चिंतकों ने अन्य भारतीय दर्शनों की समीक्षा की। बौद्ध धर्म-दर्शन में ऐसे दार्शनिक ग्रंथों की रचना की परम्परा ईसा की प्रथम-द्वितीय शती से लेकर लगभग ग्यारहवीं शताब्दी तक निरंतर बनी रही है। इस बाल में प्रारम्भ में मुख्यतः विज्ञानवाद और शून्यवाद के ग्रंथों की रचना हुई। इनमें दार्शनिक चिंतन की जो गम्भीरता देखी जाती है, वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। पश्चिम में लगभग पंद्रहवीं शती से आधुनिक काल तक जिन दार्शनिक प्रस्थानों का विकास हुआ है उन सभी के आधारभूत तत्त्व मात्र बौद्ध परम्परा की विभिन्न दार्शनिक निकायों में मिल जाते हैं।

बौद्ध धर्म-दर्शन में तार्किक शैली की दार्शनिक रचना का प्रारम्भ नागार्जुन से देखा जाता है। नागार्जुन की दार्शनिक रचनाओं में माध्यमिककारिका, युक्तिषष्टिका, विग्रहव्यावर्त्तिनी और बैदल्यसूत्रप्रकरण प्रमुख हैं। नागार्जुन की माध्यमिककारिका माध्यमिक सम्प्रदाय या शून्यवाद का प्रमुख ग्रंथ है। जहां माध्यमिककारिका शून्यवाद के आधारभूत चतुष्कोटि-विर्निमुक्त तत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करती है, वहां विग्रहव्यावर्त्तिनी

माध्यमिक परम्परा की प्रमाणमीमांसा का आधारभूत ग्रंथ है। जहां माध्यमिककारिका में नागार्जुन ने सत्, असत्, उभय और अनुभय- इन चार कोटियों से भिन्न (शून्यतत्त्व) के सवरूप का निरूपण किया है, वहीं विग्रहव्यावर्त्तिनी में उन्होंने न्यायसूत्र के प्रमाणों की गम्भीर समीक्षा की है। इस ग्रंथ में नागार्जुन ने न्याय दर्शन द्वारा मान्य चार प्रमाणों का उपस्थापन कर उनका खण्डन किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नागार्जुन न्यायसूत्र एवं उनकी विषयवस्तु से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने न्यायसूत्र में प्रतिपादित प्रमाणों को अपनी समीक्षा का आधार बनाया है। न्याय दर्शन में नागार्जुन के इस खण्डन का प्रत्युत्तर परवर्तीकालीन न्याय दार्शनिकों द्वारा न्यायसूत्रों की टीकाओं में दिया गया। विशेष रूप से उद्योतकर (छठी शती उत्तरार्ध) एवं वाचस्पति मिश्र (9वीं शती उत्तरार्ध) ने अपने ग्रंथों में नागार्जुन के मन्तव्यों का खण्डन किया है।

नागार्जुन के पश्चात् मैत्रेय ने बौद्ध विज्ञानवाद पर अपने ग्रंथों की रचना की जिनमें बोधिसत्वचर्या निर्देश, सप्तदशाभूमि, अभिसमय-अलंकारिका आदि प्रमुख हैं। सप्तदशाभूमिशास्त्र में मैत्रेय ने वाद-विषय, वादाधिकरण, वादकरण आदि के निरूपण के साथ-साथ सिद्धांत, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ऐसे पाठ प्रमाणों का उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि मैत्रेय ने गौतम द्वारा प्रणीत न्यायसूत्र के उपमान प्रमाण का कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी वे जिन आठ प्रमाणों का उल्लेख करते हैं वे न्याय दर्शन से अवतरित प्रतीत होते हैं।

नागार्जुन एवं मैत्रेय के पश्चात् बौद्ध विज्ञानवाद के प्रतिष्ठित आचार्यों में असंग और बसुबन्धु- इन दोनों भाइयों का नाम आता है। असंग की रचनाओं में 'योगाचारभूमिशास्त्र' एक प्रमुख ग्रंथ है। योगाचारभूमिशास्त्र में उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम- ये तीन प्रमाण ही स्वीकार किए हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत साधर्म्य एवं वैधर्म्य को अनुमान का ही अंग माना है। इस प्रकार असंग अपनी प्रमाण-व्यवस्था में किसी सीमा तक न्याय दर्शन से निकटता रखते हैं। यद्यपि इनकी व्याख्याओं को लेकर इनका न्याय दर्शन से स्पष्ट मतभेद भी देखा जा सकता है।

असंग एवं बसुबन्धु (ईसा की पांचवीं शताब्दी) के पश्चात् बौद्ध परम्परा में दिग्नांग का स्थान आता है। दिग्नांग के पूर्व बौद्ध न्यायशास्त्र पर आंशिक रूप से गौतम के न्यायसूत्र का प्रभाव देखा जाता है, किंतु दिग्नांग ने बौद्ध न्याय को एक नवीन दिशा दी। परवर्ती काल में नैयायिकों, मीमांसकों और जैन आचार्यों ने दिग्नांग के मन्तव्यों को ही

अपनी आलोचना का आधार बनाया। न्याय दर्शन में उद्योतकर ने, मीमांसा दर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर ने और जैन दर्शन में द्वादशारनयचक्र के कर्त्ता मल्लवादी, आप्तमीमांसा के कर्त्ता समन्तभद्र आदि ने दिग्नांग का खण्डन किया है। दिग्नांग की प्रमुख रचनाओं में आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्र, न्यायमुख, हेतुमुखप्रमाणसमुच्चय एवं उसकी वृत्ति आदि प्रमुख है। ज्ञातव्य है कि दिग्नांग के प्रमाणसमुच्चय का खण्डन करने के लिए उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक एवं कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक की रचना की थी। जैन दार्शनिक मल्लवादी ने भी द्वादशारनयचक्र की न्यायागमानुसारिणी टीका में प्रमाणसमुच्चय की अवधारणाओं का खण्डन किया। इसके अतिरिक्त जैन ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, सन्मतिप्रकरणटीका आदि में भी प्रमाणसमुच्चय की स्थापनाओं की समीक्षा उपलब्ध होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध दार्शनिक दिग्नांग के काल से भारतीय दार्शनिक चिंतन में विशेष रूप से प्रमाण सम्बंधी विवेचनाओं के खण्डन-मण्डन को पर्याप्त महत्त्व मिला। कुछ ऐसा भी हुआ कि अन्य परम्परा के लोगों ने अपने से भिन्न परम्परा के ग्रंथों पर टीकाएं भी लिखी। दिग्नांग का 'न्यायप्रवेश' बौद्धन्याय का एक प्रारम्भिक ग्रंथ है, किंतु यहां यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि इस ग्रंथ पर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने न्यायप्रवेश मूलतः प्रमाण-व्यवस्था के संदर्भ में केवल बौद्ध मंतव्यों को प्रस्तुत करता है। इस पर हरिभद्रसूरि की टीका विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने इस सम्पूर्ण टीका में कहीं भी जैन मन्तव्यों को हावी नहीं होने दिया है। सम्भवतः ऐसा उदारवादी दृष्टिकोण हरिभद्र जैसे समदर्शी आचार्य का ही हो सकता है। न्यायप्रवेश की वृत्ति में हरिभद्र ने न्यायसूत्र व उसके भाष्यकार वात्स्यायन वार्तिककार उद्योतकर, तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र और तात्पर्यटीका पर परिशुद्धि लिखने वाले का भी उल्लेख किया है। दूसरी ओर इस ग्रंथ की टीका में धर्मकीर्त्ति के वादन्याय, न्यायबिंदु एवं प्रमाणवार्त्तिक, शान्तरक्षित के तर्कसंग्रह और नागार्जुन के माध्यामिकशास्त्र एवं दिग्नांग के प्रसारणसमुच्चय का भी निर्देश किया गया है। डॉ. रंजन कुमार शर्मा ने इसी प्रसंग में न्यायप्रवेशसूत्रम् की भूमिका में हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा का जो निर्देश किया है, वह भ्रांत है, क्योंकि यह ग्रंथ हरिभद्र से परवर्ती है। अतः इसका निर्देश हरिभद्र की न्यायप्रवेश की टीका में सम्भव नहीं है।

दिग्नांग के प्रमाणसमुच्चय और न्यायप्रवेश के पश्चात् बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्यों में धर्मकीर्त्ति का नाम आता है। धर्मकीर्त्ति ने जहां एक ओर अपने ग्रंथ प्रमाणवार्त्तिक में

उद्योतकर, भर्तृहरि और कुमारिल की उपस्थापनाओं का खण्डन किया है, वहीं दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र, जयंत भट्ट, व्योमशिव तथा जैन चिन्तक अकलंक और विद्यानंद ने धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्त्तिक के मन्तव्यों की समीक्षा की है। धर्मकीर्त्ति के पूर्व जहां बौद्ध दार्शनिकों का बौद्ध दर्शन की समीक्षा का आधार दिग्नांग का प्रमाणसमुच्चय रहा था, वहीं परवर्तीकाल में धर्मकीर्त्ति का प्रमाणवार्त्तिक बन गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में बौद्धेतर दार्शनिक बौद्ध-ग्रंथों का और बौद्ध दार्शनिक बौद्धेतर दार्शनिकों के ग्रंथों का अध्ययन करते थे। ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्त्ति के अन्य भी प्रमुख ग्रंथ न्यायबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, हेतुबिंदु, सम्बंधपरीक्षा, वादन्याय आदि रहे हैं, जिनमें नैयायिकों, मीमांसकों एवं जैन उपस्थापनाओं की समीक्षा मिलती है। धर्मकीर्त्ति के पश्चात् बौद्धन्याय के क्षेत्र में धर्मोत्तर और अर्चट के नाम आते हैं। जैन ग्रंथ प्रमाणनयतत्त्वालोक के टीकाकार रत्नप्रभसूरि ने 'रत्नकरावतारिका' में शब्दार्थ सम्बंध के संदर्भ में नैयायिकों, मीमांसकों और वैयाकरणिकों के मतों की समीक्षा धर्मोत्तर के नाम से की। इसी प्रकार रत्नप्रभसूरि ने अर्चट के नाम का भी निर्देश किया है। अर्चट आचार्य हरिभद्र के समकालीन प्रतीत होते हैं। धर्मकीर्त्ति के हेतुबिंदु पर अर्चट की टीका बौद्ध प्रमाणशास्त्र के लिए आधारभूत मानी जाती रही है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ के बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी समालोचना का विषय मुख्य रूप से न्याय दर्शन को बनाया था, किंतु अर्चट ने हेतुबिंदु टीका में जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धांत का पैंतालीस पद्यों में खण्डन किया है। इसी प्रकार अर्चट ने द्रव्य और पर्याय की कथंचित् अव्यतिरेकता का प्रतिपादन करने वाले समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के श्लोक का भी खण्डन किया है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** की समीक्षा करते हुए सत् को क्षणिक सिद्ध किया। बौद्ध दार्शनिकों के क्रम में आगे शान्तरक्षित और कमलशील के नाम आते हैं। शान्तरक्षित का आठवीं शती का तत्त्वसंग्रह, बौद्धन्याय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में अविद्धकर्ण शंकरस्वामी, भावीवित्त तथा जैन दार्शनिक सुमति और पात्रस्वामी के मन्तव्यों को उपस्थापित कर उनका खण्डन किया है। इसी प्रकार शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह पर कमलशील की पंजिका में भी जैन दार्शनिक सुमति एवं पात्रस्वामी के मतों की समीक्षा मिलती है। दुर्वेकमिश्र का बौद्ध न्यायशास्त्र के रचयिताओं में अंतिम नाम आता है। हेतबिन्दुटीकालोक, धर्मोत्तरप्रदीप और न्यायबिन्दु टीका इनका प्रमुख ग्रंथ है। हेतुबिंदुटीकालोक में दुर्वेकमिश्र ने जैन मन्तव्यों की समीक्षा की है। इस प्रकार ईसा की

तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ग्याहरवीं शताब्दी तक भारत में बौद्ध दर्शन एवं न्याय के अनेक ग्रंथों की रचना हुई, इनमें जहां बौद्ध दार्शनिकों ने भी बौद्धेतर दार्शनिकों के मन्तव्यों की समीक्षा की, वहीं बौद्धेतर दार्शनिकों ने इन बौद्ध आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों को आधार बनाकर बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की है। इस प्रकार लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी तक भारतीय दार्शनिक एक-दूसरे की परम्परा का सम्यक् रूप से अध्ययन करते रहे और उन्हें अपनी समीक्षा का विषय बनाते रहे। इस काल के बौद्ध एवं बौद्धेतर दर्शन ग्रंथों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल तक अपने से भिन्न परम्परा के ग्रंथों के अध्ययन एवं समीक्षा की एक जीवन्त परम्परा थी, जो परवर्तीकाल में लुप्त हो गई।

जैन विचारकों की दृष्टि में बौद्ध धर्म-दर्शन

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है कि जैन ग्रंथों में बौद्ध धर्म एवं दर्शन सम्बंधी उल्लेख आगम युग से ही मिलने लगते हैं। सर्वप्रथम इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) में सारिपुत्त, महाकश्यप और वज्जीपुत्त के उपदेशों का संकलन किया गया है, इसमें बौद्ध सन्ततिवाद, स्कन्धवाद आदि का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त सूत्रकृतांगसूत्र में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद की समीक्षा भी है। इसके पश्चात् सर्वप्रथम द्वात्रिंशिका में न्याय दर्शन, तेरहवीं में सांख्य दर्शन, चौदहवीं में वैशेषिक दर्शन और पंद्रहवीं द्वात्रिंशिका में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद आदि पर चुटीले व्यंग्य किए गए हैं, किंतु वहीं सद्धिसेन ने सन्मतितर्कप्रकरण में बौद्ध क्षणिकवाद को ऋजुसूत्रनय के आधार पर समीचीन भी माना है। इसके पश्चात् मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र और उसकी सिंहसूरि की टीका में भी बौद्ध मन्तव्यों की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है।

मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र में बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा कहां और किस रूप में मिलती है, इसका मूल संदर्भों सहित निर्देश डॉ. धर्मचंद जैन ने अपने ग्रंथ 'बौद्ध-प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा' के परिशिष्ट तृतीय, अध्याय-ख, पृ.394-396 पर किया है। इसमें दिग्नांग की उपस्थापनाओं को आधार बनाकर ही बौद्ध दर्शन की समीक्षा की गई है। लगभग ईसा की छठी शती में 'विशेषावश्यकभाष्य' के गणधरवाद में बौद्धों के क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। यद्यपि सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अनेकांतवाद की स्थापना के अपने प्रयत्न में बौद्धों के सत् के परिवर्तनशीलता के सिद्धांत और इसके विरोधी कूटस्थ नित्यता के सिद्धांत के मध्य समन्वय का प्रयत्न कर बौद्ध मन्तव्य की सापेक्षिक सत्यता का प्रतिपादन अवश्य किया,

फिर भी हरिभद्र के पूर्व तक प्रायः जैन दार्शनिक बौद्ध दर्शन को एकान्त क्षणिकवादी और अनात्मवादी मानकर उसकी समीक्षा करते रहे। तत्त्वार्थवार्त्तिक के लेखक अकलंक ने भी बौद्धों के तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय मन्तव्यों की समीक्षा की है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के दर्शन-व्यवस्था युग और प्रमाण-व्यवस्था युग, दर्शन निकायों के पारस्परिक खण्डन-मण्डन के काल ही रहे हैं। जैन दार्शनिक भी बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा के संदर्भ में इसके अपवाद नहीं हैं। हरिभद्र के पूर्ववर्त्ती सभी जैन दार्शनिकों ने भी बौद्ध-दर्शन और उसकी प्रमाण-व्यवस्था की समीक्षा की और समीक्षा का यह क्रम आगे भी चलता रहा, हरिभद्र के पश्चात् भी विद्यानंद, सुमति, प्रभाचंद्र, वादिदेवसूरि, माणिक्यनन्दी, अभयदेवसूरि रत्नप्रभसूरि, चंद्रसेनसूरि, हेमचंद्र आदि जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के क्षणिकवाद, सन्ततिवाद, प्रमाणलक्षण, प्रमाण की अव्यवसायात्मकता, प्रमाण का मात्र स्व-प्रकाशक होना, शब्द और अर्थ में सम्बंध का अभाव, प्रत्यक्ष की निर्विकल्पना, अपोहवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि की जमकर समीक्षा की। इन सबके बीच आचार्य हरिभद्र का एक ऐसा व्यक्तित्व उभरा जिसने बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए उसमें निहित सत्यता का उदारहृदय से स्वागत किया और दिग्नांग के न्यायप्रवेश पर निष्पक्ष टीका लिखी। खण्डन-मण्डन के इस युग में हरिभद्र का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान है- दर्शन-संग्राहक ग्रंथों की रचना की। शास्त्रवार्तासमुच्चय और षट्दर्शनसमुच्चय उनके इसी कोटि के ग्रंथ हैं।

दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में बौद्ध दर्शन

यद्यपि दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में सर्वदर्शनसंग्रह को प्रथम स्थान दिया जाता है और उसे आदि शंकराचार्य की कृति बताया जाता है, किंतु वह आदि शंकराचार्य की कृति है, इस सम्बंध में अनेक विप्रतिपत्तियां हैं। यहां उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। मेरी दृष्टि में दर्शन-संग्राहक ग्रंथों की रचना का द्वक्षर हरिभद्र ने ही उद्घाटित किया और षड्दर्शनसमुच्चय की रचना कर खण्डन-मण्डन के इस युग में एक नवीन दृष्टि दी।

ज्ञातव्य है कि भारत के दर्शन-संग्राहक सभी ग्रंथों में हमें बौद्ध धर्म-दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों की जानकारी उपलब्ध होती है। भारतीय दार्शनिक ग्रंथों में बौद्ध धर्म-दर्शन की स्थिति को समझने के लिए इन दर्शन-संग्राहक ग्रंथों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

जैन दर्शन की अनेकान्तदृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप कुछ जैनाचार्यों ने उदारता का परिचय तो अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है,

जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जाएं, किंतु ऐसे कितने हैं, जिन्होंने समन्वयात्मक और उदारदृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो?

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है- एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। पुनः आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रंथकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतिकरण के साथ न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रंथ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अंधविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बंध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं।

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धांत को एक ही ग्रंथ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि और उससे प्राचीन दर्शन-संग्राहक कोई अन्य ग्रंथ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक- तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रंथों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतिकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किए हैं, किंतु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही रही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र

महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है, किंतु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना रहा है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है, उसी प्रकार उसका खण्डन भी। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र च लता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करते हैं, तभी उचित है, अन्यथा नहीं।[1] नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्व-पक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और पर-पक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रंथ नहीं लिखा गया।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है जैनेतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में संदेह है। इस ग्रंथ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अंत में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गई है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किंतु जहां नयचक्र, अंतिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अंतिम नहीं मानता है, वहां 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' वेदांत को एकमात्र और अंतिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शन-संग्राहक ग्रंथ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय की जो विशेषता है, वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई.1350) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किंतु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदांत ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहां हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के तटस्थ भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहां वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रंथों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतिकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छः प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ हैं आस्तिक-वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है, जो उसे पूर्व उल्लेखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रंथों से अलग करती है वह यह कि इस ग्रंथ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कहकर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूंकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किए हैं।[2] इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किंचि त् उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किंतु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के संदर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो प्रस्थान-भेद एवं सर्वदर्शनकौमुदीकार को इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में हरिभद्र की जो निष्पक्षता और उदारदृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, किंतु उनमें भी कुछ लेखकों का उद्देश्य तो कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन को ही अंतिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गए दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में अज्ञाताकर्तृक 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है, किंतु इतना निश्चित है कि यह ग्रंथ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में 'सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं' ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है।[3] अंतर मात्र यह है कि जहां हरिभद्र का ग्रंथ पद्य में है वहां सर्वसिद्धांतप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रंथ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है। इसमें बौद्ध दर्शन पर भी एक अध्याय है। जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि

(वि.सं.1265) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रंथ के अष्टम् उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक- इन छः दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

यह ग्रंथ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र 66 श्लोक परिमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम सं. 1405) के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का आता है। इस ग्रंथ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है और अंत में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रंथ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अंतर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतिकरण में जहां हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं, वहां राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके हों।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रंथ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है। इस ग्रंथ में मेरुतुंग ने जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक- इन छः दर्शनों की मीमांसा की है, किंतु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिए लिखा गया है। इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति के अंत में अज्ञातकृत एक कृति मुद्रित है। इसमें भी जैन, न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक- ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किंतु अंत में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैन दर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

फिर भी इतना निश्चित है कि हरिभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने अपने दर्शन-संग्राहक में अधिक उदारता का परिचय दिया है और इन सभी में बौद्ध दर्शन का प्रस्तुतिकरण

अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिकता से हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रंथों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रंथों में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय है। दर्शन संग्राहक ग्रंथों की यह परम्परा आधुनिक युग में भी देखी जाती है। भारतीय दर्शन पर लिखे गए समकालीन लेखकों- सुरेंद्र नाथ दास गुप्ता, डॉ.राधाकृष्णन, प्रो. जदुनाथ सिन्हा, प्रो. चंद्रधर शर्मा, डॉ. उमेश मिश्र, पं.बलदेव उपाध्याय आदि के ग्रंथों में बौद्ध दर्शन और उसकी विभिन्न निकायों का उल्लेख उपलब्ध होता है, यद्यपि प्रो. राधाकृष्णन् ने बौद्ध दर्शन की समीक्षा भी की है, किंतु अधिकांश लेखकों का प्रयत्न यथावत् प्रस्तुतिकरण का रहा है।

समीक्षा में भी शिष्ट भाषा का प्रयोग

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यंत प्राचीनकाल से होते रहे हैं। प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्व-पक्ष का मण्डन तथा पर-पक्ष का खण्डन- यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी उनकी यह विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं।

इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रंथ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रंथ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रंथ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं-

य श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावह ।।

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रंथ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं- **कपिलोदिव्यो हि स महामुनिः** (शास्त्रवार्तासमुच्चय, 237)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवेद्यवत् (वही, 465-466) कहते हैं। यहां हम देखते हैं कि जहां एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास

करते हैं- न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किंतु इस सम्पूर्ण ग्रंथ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहां हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की समीक्षा तो की है, किंतु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धांत का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही किया है, क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं हैं तो उने प्रति तृष्णा उत्पन्न नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद- इन तीनों सिद्धांतों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

यद्यपि दिग्नांग के पूर्व तक बौद्ध दार्शनिकों ने जैन दर्शन के प्रति उपेक्षा भाव रखा था, किंतु परवर्तीकाल में जैन दर्शन भी उनकी समीक्षा का विषय बना है। भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब बौद्ध आदि अन्य दर्शनों की समलोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप

में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर रहे हैं। यह सत्य है कि अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने समालोच्य बौद्ध आदि प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न ही उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर तटस्थ भाव से टीकाएं भी लिखीं। दिग्नांग के बौद्ध ग्रंथ 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतंजलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर है, क्योंकि उन्होंने उसी के आधार पर नवीन दृष्टिकोण से 'योगदृष्टिसमुच्चय', 'योगबिन्दु', 'योगविंशिका' आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद ने दर्शन ग्रंथों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी बौद्ध आदि इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक कृतियों में षड्दर्शनसमुच्चय एक प्रमुख कृति है। इस ग्रंथ में आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनी (मीमांसक) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि षड्दर्शनसमुच्चय के षड्दर्शनों में बौद्ध दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। बौद्धों के आराध्य सुगत का उल्लेख करते हुए चार आर्यसत्यों की बात कही गई हैं चार आर्यसत्यों के साथ-साथ, इसमें पंचस्कंधों का उल्लेख है और उसके पश्चात् संस्कारों की क्षणिकता को बतलाते हुए यह कहा गया है कि वासना का विरोध होना ही मुक्ति है, साथ ही इसमें बारह धर्म आयतनों और दो प्रमाणों-प्रत्यक्ष और अनुमान का भी उल्लेख हुआ है। षड्दर्शनसमुच्चय में बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धांतों का निष्पक्ष दृष्टि से प्रतिपादन हुआ है, साथ ही टीकाकार गुणरत्न ने इनकी जैन दृष्टि से समीक्षा भी प्रस्तुत की है।

हरिभद्र का दूसरा ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय है। जहां षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों के मन्तव्यों का निष्पक्ष दृष्टि से प्रतिपादन है, वहां शास्त्रवार्तासमुच्चय में समादर भावपूर्वक समीक्षा एवं समन्वयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। इस ग्रंथ के चतुर्थ और

छठवें स्तबक में क्षणिकवाद की समीक्षा है। वहां पांचवें स्तबक में विज्ञानवाद और छठवें स्तबक में शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त दसवें स्तबक में सर्वज्ञता प्रतिषेधवाद तथा ग्यारहवें स्तबक शब्दार्थ प्रतिषेध में भी बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की गई है। समीक्षा के साथ बुद्ध के प्रति समादरभाव व्यक्त करते हुए बुद्ध ने इन सिद्धांतों का प्रतिपादन तृष्णा के प्रहाण के लिए किया, ऐसा उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अनेकान्तजयपताका के पांचवें आदि अधिकारों में बौद्ध के योगाचार दर्शन की समीक्षा उपलब्ध होती है। अनेकान्तवाद प्रवेश में भी अनेकान्तजयपताका के समान ही अनेकान्तवाद को सरल ढंग से स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रंथ में बौद्ध ग्रंथों के उल्लेख एवं समीक्षाएं उपलब्ध होती हैं। इसी क्रम में हरिभद्र के योगदृष्टिसमुच्चय में भी बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा उपलब्ध होती है। संक्षेप में हरिभद्र ने बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद को ही मुख्य रूप से अपनी समालोचना का विषय बनाया है। किंतु हरिभद्र के अनुसार क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद मूलतः बाह्यार्थों के प्रति रही हुई व्यक्ति की तृष्णा के उच्छेद के लिए हैं।

बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा की अन्य परम्पराओं से समानता और अंतर

भारतीय चिंतन में बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा की क्या स्थिति है इसे निम्न बिंदुओं से समझा जा सकता है-

1. सत् के स्वरूप के सम्बंध में जहां अद्वैत वेदांत उसे अपरिणामी या अविकारी मानता है वहां बौद्ध दर्शन उसे सतत् परिवर्तनशील मानता है, जैन दार्शनिक उसे 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्' कहकर दोनों में समन्वय करते हैं। यहां मीमांसक भी जैनों के दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते हैं, किंतु सांख्य अपनी प्रकृति और पुरुष की अवधारणा में पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी मानते हैं।

2. बौद्ध दार्शनिक जहां सत् को क्षणिक कहता है, वहां वेदांत उसे शाश्वत कहता है। जैन दर्शन बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा तो करते हैं, किंतु वे उसमें पर्यायों की दृष्टि से अनित्यता को भी स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में द्रव्य नित्य है, किंतु उसकी पर्याये अनित्य हैं।

3. बौद्ध के शून्यवाद में तत्त्व को सत्, असत् और अनुभय- इन चारों विकल्पों से भिन्न शून्य कहा गया है, जबकि जैनों ने उसे सत्, असत्, उभय और अनुभय चारों विकल्पों से युक्त माना हैं सत्ता की अनिर्वचनीयता को लेकर प्रायः शून्यवाद और अद्वैतवाद

में समानता परिलक्षित होती है, फिर भी जहां बौद्धों की अनिर्वचनीयता नकारात्मक है, वहां वेदांत की अनिर्वचनीयता को भी सापेक्ष माना है, वे उसे कथंचित् अवक्तव्य और कथंचित् वक्तव्य मानते हैं। जैनों की अवक्तव्यता भाषागत समस्या है, जबकि बौद्धों और वेदान्तियों की अनिर्वचनीयता स्वरूपात्मक है, किंतु जहां बौद्ध उसे निःस्वभाव मानता है, वहां वेदांत अनिर्वचनियता को सत्ता का स्वरूप लक्षण मानता है।

4. जहां बौद्ध विज्ञानवाद में क्षणक्षयी चित्त (विज्ञान) को ही परमतत्त्व माना गया है, वहां जैन दर्शन में आत्मा को महत्त्व देते हुए भी जड़ और चेतन दोनों की स्वतंत्र सत्ता मानी गई है, सांख्यों ने भी पुरुष एवं प्रकृति के रूप में इस द्वैतवाद को स्वीकारा है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसक बहुतत्त्ववादी हैं, किंतु वे भी चित् और अचित् दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। जैन चेतन (जीव) और जड़ (अजीव) दोनों के सम्बंध में बहुतत्त्ववादी हैं, यद्यपि वे आकाश, धर्म और अधर्म को एक-एक स्वतंत्र तत्त्व ही मानते हैं। सांख्य पुरुष की अनेकता और प्रकृति का एकत्व मानता है। जबकि विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध तथा शांकर वेदांत अद्वैतवादी हैं।

5. बौद्ध विज्ञानवाद जहां बाह्यार्थ का निषेध करता है, वहां जैन दर्शन, नैयायिक एवं मीमांसक के समान बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करता है। ज्ञातव्य है कि बौद्धों में भी सर्वास्तिवादी-सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं, फिर भी सौत्रान्तिक उसे प्रत्यक्ष का विषय न मानकर अनुमेय ही मानते हैं।

6. वस्तु की बहुआयामिता को आधार बनाकर जैनों ने अनेकांतवाद की स्थापना की। मीमांसकों ने भी इसका समर्थन किया, किंतु बौद्ध निषेधमुखी होने से अनेकांत की अपेक्षा शून्यवाद की दिशा में अग्रसर हो गए, फिर भी शून्यवाद और अनेकांतवाद दोनों ही एकांत का विरोध तो समान रूप से करते हैं। अंतर यह है कि बौद्ध एकान्तवाद का खण्डन जहां निषेधमुख से करते हैं, वहां जैन प्रतिपक्ष में निषेधमुख से और स्वपक्ष में विधिमुख से करते हैं।

7. शब्द और अर्थ के मध्य सम्बंध को लेकर जहां मीमांसक तादात्म्य सम्बंध मानते हैं, न्याय-वैशेषिक तदुत्पत्ति सम्बंध मानते हैं और जैन वाच्य-वाचक सम्बंध मानते हैं, वहीं बौद्ध शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार का सम्बंध नहीं मानते हैं। वे अपोहवाद के माध्यम से शब्द द्वारा अर्थबोध को घटित करते हैं, किंतु शब्द को मात्र अपोहपरक या निषेधपरक मानने से उसकी वाच्यता सामर्थ्य अपूर्ण रहती है। वस्तुतः शब्द का विधिपरक

अर्थात् 'ऐसा है' और निषेधपरक 'ऐसा नहीं है', यह उभय रूप ग्रहण करने पर ही पूर्ण अर्थबोध सम्भव होता है।

8. जहां तक विभज्यवादी दृष्टिकोण का प्रश्न है बौद्ध और जैन दोनों ही विभज्यवादी हैं दोनों ही एकांतिक प्रतिस्थापनाओं के विरोधी हैं और विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने की बात करते हैं।

9. जैनों ने अपनी अनैकांतिक दृष्टि के कारण बौद्धों की अनेक अवधारणाओं का उनकी विरोधी अवधारणाओं के साथ समन्वय किया है।

बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा
एक तुलनात्मक अध्ययन

जैन एवं बौद्ध प्रमाणशास्त्र का ऐतिहासिक विकासक्रम

जैन और बौद्ध दर्शन भारतीय श्रमण संस्कृति के दर्शन हैं। आचारशास्त्र के सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा से दोनों में बहुत कुछ समानताएं हैं, किंतु जहां तक तत्त्वमीमांसीय और प्रमाणशास्त्रीय विवेचनों का प्रश्न है, दोनों में कुछ समानताएं और कुछ अंतर परिलक्षित होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन एकांतवाद के विरोधी हैं। दोनों के दार्शनिक विवेचन के मूल में विभज्यवादी दृष्टिकोण समाहित है। तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन जहां एकांतवाद का निषेध करके मध्यम-प्रतिपदा की बात करता है, वहीं जैन दर्शन एकांतवाद का निषेध कर अनेकांतवाद की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दोनों दर्शनों की मूलभूत दृष्टि अर्थात् एकांतवाद के निषेध में समनता है, किंतु अपनी दार्शनिक विवेचनाओं के अग्रिम चरणों में दोनों दर्शनों की मान्यताओं में अंतर देखा जाता है। उसका कारण यह है कि जहां एकांतवाद से बचने के लिए बौद्धदर्शन निषेधपरक रहा, वहां जैन दर्शन ने विधिमुख से अपनी बात कही। जैन दर्शन का चरम विकास उसके अनेकांतवाद और स्याद्वाद के सिद्धांत के रूप में हुआ, वहीं बौद्ध दर्शन का चरम विकास अपनी मध्यमप्रतिपदा पर आधारित होते हुए भी अंततः विज्ञानवाद और शून्यवाद के रूप

में हुआ।

जहां तक जैन और बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, प्राचीन जैन आगमसाहित्य और बौद्ध त्रिपिटक में हमें प्रमाणशास्त्र संबंधी विशेष विवेचनाएं उपलब्ध नहीं होती हैं। परवर्ती जैन आगमों **समवायांग, अनुयोगद्वारसूत्र** और **नन्दीसूत्र** में ज्ञानमीमांसा की तो विस्तृत चर्चा है, किंतु प्रमाणशास्त्र संबंधी चर्चा का उनमें भी कुछ संकेतों के अतिरिक्त प्रायः अभाव ही है। इस प्रकार पालि त्रिपिटक और अर्द्धमागधी आगमों में प्रमाणशास्त्र संबंधी छुटपुट शब्दों यथा तक्क, विमंसी, पमाण, हेतु व्यवसाय आदि के प्रयोग तो मिल जाते हैं, किंतु एक सुव्यवस्थित प्रमाणशास्त्र की उपलब्धि नहीं होती है। बौद्ध परम्परा में सर्वप्रथम नागार्जुन ने लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में शून्यवाद की स्थापना के साथ विग्रहव्यावर्तनी और वैदल्यसूत्र में प्रमाणों का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणशास्त्र के विकास का मुख्य श्रेय विज्ञानवादी योगाचार दर्शन को जाता है। बौद्ध परम्परा में दिग्नांग (चौथी-पांचवीं शती) को बौद्ध प्रमाण-शास्त्र प्रस्तोता माना जा सकता है।

मल्लवादी (चौथी-पांचवीं शती) आदि प्राचीन जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में पूर्वपक्ष के रूप में दिग्नांग के ग्रंथों को ही आधार बनाया है। मल्लवादी की कृति द्वादशारनयचक्र में दिग्नांग की अवधारणाओं को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की गई है।

दिग्नांग के गुरु बौद्ध विज्ञानवादी असंग के लघुभ्राता वसुबंध रहे हैं। यद्यपि वसुबंधु के ग्रंथों में भी न्यायशास्त्र सम्बंधी कुछ विवेचन उपलब्ध होते हैं, फिर भी प्रमाणशास्त्र की विवेचना की दृष्टि से दिग्नांग का **प्रमाणसमुच्चय** ही बौद्ध परम्परा का प्रथम स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। परवर्ती जैन और जैनेतर दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में इसे ही आधार बनाया है। दिग्नांग के पश्चात् बौद्ध न्याय के प्रस्तोताओं में धर्मकीर्ति प्रमुख माने जाते हैं। धर्मकीर्ति के सत्ताकाल को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद है, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि वे ईसा की सातवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान् हैं। जैन विद्वान् पं. महेंद्र कुमार न्यायाचार्य ने उनका काल 620 ईस्वी से 690 ईस्वी माना है, जो समुचित ही प्रतीत होता है। यद्यपि धर्मकीर्ति के पश्चात् भी धर्मोत्तर, अर्चट, शांतरक्षित, कमलशील, देवेंद्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, रविगुप्त, कर्नकगौमी आदि अनेक बौद्ध आचार्य हुए हैं, जिन्होंने बौद्ध प्रमाणमीमांसा पर ग्रंथ लिखे हैं, किंतु प्रस्तुत विवेचना में हम

अपने धर्मकीर्ति तक ही सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे। क्योंकि अकलंक (आठवीं शती) आदि जैन आचार्यों ने दिग्नांग एंव धर्मकीर्ति की स्थापनाओं को ही अपने खण्डन का विषय बनाया है।

जहां तक जैन प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, उसका प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर के **न्यायावतार** से होता है। सिद्धसेनदिवाकर को लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी का विद्वान् माना जाता है। उनका **न्यायावतार** जैन प्रमाणशास्त्र का प्रथम ग्रंथ है। इसमें प्रमाण की परिभाषा के साथ-साथ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इस ग्रंथ की मूल कारिकाओं में बौद्ध प्रमाणशास्त्र के खण्डन का स्पष्ट रूप से कोई निर्देश नहीं है। फिर भी 'स्वपराभासिज्ञानं प्रमाणम्' कहकर प्रमाण को मात्र स्वप्रकाशक मानने वाली बौद्ध परम्परा के खण्डन का संकेत अवश्य मिलता है, किंतु बौद्ध प्रमाणशास्त्र की स्पष्ट समीक्षा का इस ग्रंथ में प्रायः अभाव ही है। इस ग्रंथ के अवलोकन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र से परिचित अवश्य थे, क्योंकि इस ग्रंथ में कहीं बौद्धमत से समरूपता और कहीं विरोध परिलक्षित होता है। यद्यपि जैन परम्परा में सिद्धसेन के पूर्व उमास्वाति (तीसरी शती) ने **तत्त्वार्थसूत्र** में ज्ञान के आगमिक पांच प्रकारों का उल्लेख करके अगले सूत्र में उन्हें प्रमाण के रूप में उल्लेखित किया है, साथ ही प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों का भी उल्लेख किया है, फि र भी उमास्वाति को जैन न्याय के आद्यप्रणेता के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके **तत्त्वार्थसूत्र** और उसके **स्वोपज्ञभाष्य** में इन दो सूत्रों के अतिरिक्त प्रमाण सम्बंधी कोई विशेष चर्चा उपलब्ध नहीं है। उनके पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर ने यद्यपि जैन प्रमाणव्यवस्था के सम्बंध में एक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना तो की, किंतु उन्होंने प्रमाणमीमांसा सम्बंधी बौद्ध एवं अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की समीक्षा यदि सर्वप्रथम किसी ने की है, तो वे **द्वादशारनयचक्र** के प्रणेता मल्लवादी (लगभग पांचवीं शती) हैं। मल्लवादी के दिग्नांग के **प्रमाणसमुच्चय** से अनेक संदर्भों को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की है। मल्लवादी दिग्नांग से परवर्ती और धर्मकीर्ति से पूर्ववर्ती हैं। बौद्ध विद्वानों ने दिग्नांग का काल ईसा की पांचवीं शती माना है, किंतु **द्वादशारनयचक्र** की प्रशस्ति से मल्लवादी का काल विक्रम सं. 414 तद्नुसार ई. सन् 357 माना है। इस दृष्टि से दिग्नांग को भी ईसा की चौथी शती के उत्तरार्द्ध से पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध का मानना होगा।

जैन परम्परा, बौद्ध प्रमाणशास्त्र से यदि परिचित हुई है तो वह प्रथमतः दिग्नांग और फिर धर्मकीर्ति से ही विशेष रूप से परिचित प्रतीत होती है, क्योंकि जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाण पत्र की समीक्षा में इन्हीं के ग्रंथों को मुख्य आधार बनाया है, यद्यपि धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरक्षित और कमलशील के भी संदर्भ जैन ग्रंथों में मिलते हैं। तिब्बती परम्परा के अनुसार दिग्नांग के **प्रमाणसमुच्चय** के अतिरिक्त प्रमाणशास्त्र पर उनकी जो दूसरी प्रमुख कृति है, वह न्यायप्रवेश है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसके कर्ता दिग्नांग के शिष्य शंकरस्वामी को माना है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में **न्यायप्रवेश** ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर जैन आचार्यों ने टीकाएं रचीं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने (लगभग आठवीं शताब्दी की) इस न्यायप्रवेश पर वृत्ति लिखी, जो उपलब्ध है। आगे चलकर हरिभद्र की इस **न्यायप्रवेशवृत्ति** पर पार्श्वदेवगणि ने पंजिका की रचना की। यद्यपि ये दोनों टीका ग्रंथ जैन परम्परा के आचार्यों की रचनाएं हैं, किंतु ये समीक्षात्मक न होकर विवेचनात्मक ही हैं। समीक्षा की दृष्टि से दिग्नांग के **प्रमाणसमुच्चय** के पश्चात् जैन आचार्यों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक को ही अधिक उद्धृत किया है। ज्ञातव्य है कि **प्रमाणवार्तिक** दिग्नांग के **प्रमाणसमुच्चय** की ही टीका है, फिर भी जैन आचार्यों ने अपनी बौद्ध प्रमाणशास्त्र की समीक्षा में इसको ही प्रमुख आधार बनाया है। धर्मकीर्ति के दूसरे दो ग्रंथ जो जैन आचार्यों की समीक्षा के विषय रहे हैं वे हैं **प्रमाणविनिश्चय** और **संबंधपरीक्षा**। **प्रमाणविनिश्चय** वस्तुतः उनके **प्रमाणवार्तिक** का ही संक्षिप्त रूप है और इसके आधे से अधिक श्लोक **प्रमाणवार्तिक** से ही ग्रहण किए गए हैं। धर्मकीर्ति की दूसरी कृति **संबंधपरीक्षा** वर्त्तमान में अनुपलब्ध है, किंतु इसका कुछ अंश, जो आज सुरक्षित है उसका श्रेय जैनाचार्यों को ही है। दिगम्बर जैनाचार्य प्रभाचंद्र के **प्रमेयकमलमार्तंड** (10वीं शती) में न केवल इसकी बाईस कारिकायें उपलब्ध हैं, अपितु उन्होंने उन पर व्याख्या भी की है। इसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वान् बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि (11वीं शती) ने भी **स्याद्वादरत्नाकर** में इसकी कुछ कारिकाएं उद्धृत की है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां जैन ग्रंथ **द्वादशारनयचक्र** की मूलकारिकाओं की पुनर्रचना का आधार धर्मकीर्ति के ग्रंथों की तिब्बती स्रोत रहे हैं, वहीं धर्मकीर्ति की **संबंधपरीक्षा** के कुछ अंशों के संरक्षण का आधार प्रभाचंद्र का **प्रमेयकमलमार्तंड** है। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जो समीक्षा उपलब्ध होती है, उसमें सिद्धसेन के **न्यायावतार** और मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के बाद उसके टीकाकार सिंहसूरि का क्रम आता है, किंतु सिंहसूरि की **द्वादशारनयचक्र** पर लिखी गई

टीका में भी बौद्ध परम्परा का जो खण्डन हुआ है, वह वसुबंधु और दिग्नांग के दार्शनिक मंतव्यों को ही पूर्वपक्ष के रूप में रखकर किया गया है। उन्होंने बौद्धों के प्रमाणलक्षण एवं उनकी प्रत्यक्ष प्रमाण की अवधारणा की विभिन्न दृष्टिकोणों से समीक्षा की, किंतु सिंहसूरि ने कहीं भी धर्मकीर्ति को उद्धृत नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतया वसुबंधु और दिग्नांग के मंतव्यों को ही अपनी समीक्षा का विषय बनाया, इससे यह सिद्ध होता है कि सिंहसूरि वसुबंधु एवं दिग्नांग के परवर्ती किंतु धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती रहे हैं। इनका काल छठीं शताब्दी का उत्तरार्ध या सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। जैन प्रमाणशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से सिद्धसेन और मल्लवादी के पश्चात् इन्हीं का क्रम आता है, क्योंकि ये मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के टीकाकार भी हैं।

पांचवीं–छठी शताब्दी पश्चात् से जैन आचार्यों ने बौद्ध तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की समीक्षा की, इसी क्रम में यहां हम प्रमुख रूप से उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने न केवल जैन प्रमाणशास्त्र के विकास में अपना अवदान दिया है, अपितु प्रमाणशास्त्रीय बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा भी की है अथवा उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा बौद्ध आचार्यों ने की। सिद्धसेन, मल्लवादी और सिंहसूरि के पश्चात् आचार्य सुमति (लगभग 7वीं शती) हुए हैं, ये जैनधर्म की यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं। दुर्भाग्य से आज उनकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं होती है, किंतु बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित (आठवीं शती) ने अपने ग्रंथ **तत्त्वसंग्रह** में सुमति के नामोल्लेखपूर्वक उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा की है। ज्ञातव्य है कि आचार्य सुमति ने श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन के **सन्मतितर्क** पर एक विवृत्ति भी रची थी जो आज अनुपलब्ध है, इससे लगता है कि आचार्य सुमति उस उदार यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं, जो आज लुप्त हो चुकी है। इसी काल के अर्थात् सातवीं-आठवीं शती के अन्य जैन नैयायिक पात्रकेसरी हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना **त्रिलक्षणकदर्थन** है। इसमें बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का विस्तार से खण्डन किया गया है। जहां बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित ने अपने **तत्त्वसंग्रह** (136) में इनके ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है, वहीं अकलंक आदि जैन दार्शनिकों ने भी पात्रकेसरी के **त्रिलक्षणकदर्थन** के श्लोकों को उद्धृत करके बौद्धों के त्रिरूपहेतु का खण्डन किया है। लगभग इसी काल में श्वेताम्बर जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि (आठवीं शती) हुए हैं। हरिभद्रसूरि ने **शास्त्रवार्तासमुच्चय** और **षट्दर्शनसमुच्चय** जैसे ग्रंथों में बौद्ध परम्परा के मंतव्यों का निर्देश किया है, किंतु वे एक समन्वयवादी आचार्य रहे

हैं। अतः उन्होंने अन्य दर्शनों के खण्डन की अपेक्षा उनकी दार्शनिक अवधारणाओं की जैन दर्शन के साथ संगति कैसे संभव है, यही दिखाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बौद्धप्रमाणमीमांसा की समीक्षा नहीं की, किंतु जैसा हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, उन्होंने दिग्नांग के **न्यायप्रवेश** की टीका अवश्य रची है।

जैन प्रमाणशास्त्र के व्यवस्थित प्रस्तुतिकरण के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणशास्त्र की तार्किक समीक्षा करने वाले आचार्यों में भट्ट अकलंक (ईस्वी 720 से 780) का स्थान प्रथम है। उन्होंने **तत्त्वार्थवार्तिक** के अतिरिक्त **लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह** आदि अनेक ग्रंथ रचे हैं, जिनमें जहां एक ओर जैन प्रमाणमीमांसा का सुव्यवस्थित प्रस्तुतिकरण है, वहीं दूसरी ओर अन्य दर्शनों के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणमीमांसा के प्रमाणलक्षण, निर्विकल्पप्रत्यक्ष, अपोहवाद, शब्दार्थ-संबंध, हेतु की त्रिरूपता आदि का खण्डन तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा एवं तर्क के प्रमाण्य का स्थापन तथा उनको न मानने संबंधी बौद्धों के तर्कों का निरसन किया गया है। अकलंक के पश्चात् विद्यानंद (9वीं शती) के **श्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा** आदि ग्रंथों में भी प्रमाण संबंधी बौद्ध मंतव्यों की स्पष्ट समीक्षा की गई है। जहां अकलंक के ग्रंथों में बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा हेतु दिग्नांग और धर्मकीर्ति के ग्रंथ ही आधार रहे हैं, वहां विद्यानंद ने दिग्नांग और धर्मकीर्ति के अतिरिक्त प्रज्ञाकरगुप्त के मंतव्यों का भी युक्तिसंगत खण्डन किया है। विद्यानंद के पश्चात् जैन प्रमाणशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य अनन्तवीर्य हुए हैं, इनका काल दसवीं शती है। इन्होंने अकलंक के दो ग्रंथों **सिद्धिविनिश्चय** और **प्रमाणसंग्रह** पर व्याख्या लिखी है। इनमें दिग्नांग एवं धर्मकीर्ति के अतिरिक्त धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित और कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिकों को न केवल उद्धृत किया गया है, अपितु उनके मंतव्यों की समीक्षा भी की गई है। अनन्तवीर्य के पश्चात् जैन न्याय के क्षेत्र में **तत्त्वबोधविधायनी** नामक **सन्मतितर्क** की टीका के कर्त्ता अभयदेवसूरि (11वीं शती), **प्रमेयकमलमार्तण्ड** और **न्यायकुमुदचंद्र** के रचनाकार प्रभाचंद्र (11वीं शती), **प्रमाणनयतत्त्वालोक** और उसकी स्वोपज्ञ टीका **स्याद्वादरत्नाकर** के कर्त्ता वादीदेवसूरि (12वीं शती) तथा उसी ग्रंथ की **रत्नाकरावतारिका** नामक टीका के रचनाकार आचार्य रत्नप्रभ और **प्रमाणमीमांसा** के कर्त्ता आचार्य हेमचंद्र (12वीं शती) आदि जैनप्रमाणशास्त्र के प्रबुद्ध आचार्य हुए हैं। इन सभी ने दिग्नांग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध आचार्यों और उनके ग्रंथों का न केवल

उल्लेख किया है, अपितु उनके ग्रंथों के उनके मंतव्यों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा भी की है। इनके पश्चात् भी जैन न्याय की यह परम्परा यशोविजय, विमलदास आदि के काल तक अर्थात् लगभग 18वीं शती तक चलती रही और जैन आचार्य बौद्ध मंतव्यों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उनकी समीक्षा करते रहे। यही नहीं, बीसवीं शती में भी पं. सुखलालजी, पं. दलसुख भाई, डॉ.नथमलजी टाटिया, मुनि जम्बूविजयजी आदि जैन विद्वान् बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता रहे हैं। मुनि जम्बूविजयजी ने तो तिब्बती सीखकर द्वादशारनयचक्र जैसे प्राचीन त्रुटितग्रंथ का पुनः संरक्षण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 5वीं शती से लेकर 20वीं शती तक अनेक जैन आचार्य बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता और समीक्षक रहे हैं, किंतु बौद्ध न्याय का विकास भारत में लगभग 11वीं-12वीं शती के बाद अवरुद्ध हो गया।

प्रमाणलक्षण

बौद्धदर्शन में प्रमाणलक्षण के निरूपण के सम्बंध में तीन दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं- सर्वप्रथम दिग्नांग ने अपने ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय** में स्मृति, इच्छा, द्वेष आदि को पूर्व अधिगत विषय का ज्ञान कराने वाला होने से प्रमाण का विषय नहीं माना है इसी आधार पर दिग्नांग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने **प्रमाणसमुच्चय** की टीका में प्रमाण को अज्ञात अर्थ का ज्ञापक कहा है। उनके पश्चात् आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए 'प्रमाण' अविसंवादीज्ञानम् कहकर प्रमाण को अविसंवादी ज्ञान कहा है। यद्यपि उन्होंने प्रमाण की यह स्वतंत्र परिभाषा दी है, किंतु उन्होंने 'अज्ञातार्थप्रकाशकोवा' कहकर दिग्नांग की प्रमाण की पूर्व परिभाषा को भी स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणलक्षण के सम्बंध में तीसरा दृष्टिकोण 'अर्थसारूप्यस्य प्रमाणम्' के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किंतु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेचन धर्मकीर्ति तक सीमित है। अतः हम प्रथम एवं द्वितीय प्रमाणलक्षण की ही जैन दृष्टि से समीक्षा करेंगे, क्योंकि ये दोनों लक्षण धर्मकीर्ति को भी मान्य हैं। उनके द्वारा तृतीय लक्षण वस्तुतः प्रमाणफल के रूप में विवेचित है। धर्मकीर्ति का कथन है कि ज्ञान का अर्थ के साथ जो प्रारूप या सादृश्य है वही प्रमाण है। जहां तक अनाधिगत या अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण मानने का प्रश्न है, मीमांसक और बौद्ध दोनों ही इस सम्बंध में एकमत प्रतीत होते हैं। जैन आचार्यों में अकलंक (8वीं शती), माणिक्यनंदी आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी प्रमाण को अपूर्व अर्थ का ज्ञापक माना था, किंतु कालांतर में जैन दार्शनिकों को प्रमाण के इस लक्षण को स्वीकार करने में

तार्किक असंगति प्रतीत हुई, क्योंकि स्वयं अकलंक ने स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष प्रमाण के भेद के रूप में स्वीकार किया है और ये दोनों ही अधिगत ज्ञान हैं, अपूर्व ज्ञान नहीं, इसलिए आगे चलकर विद्यानंद ने **श्लोकवार्तिक** में, वादीदेवसूरि ने **स्याद्वादरत्नाकर** में तथा हेमचंद्र ने **प्रमाणमीमांसा** में प्रमाणलक्षण निरूपण में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना आवश्यक नहीं माना। मात्र यही नहीं, इन आचार्यों ने अपनी कृतियों में इसकी विस्तृत समीक्षा भी की है। **प्रमाणमीमांसा** में स्पष्ट रूप से यह कहा है कि ग्रहीष्यमानज्ञान की भांति ग्रहीताग्राही ज्ञान भी प्रमाण है (1/1/4)।

जहां तक धर्मकीर्ति के द्वारा अविसंवादी ज्ञान को ही प्रमाण लक्षण स्वीकार करने का प्रश्न है जैन दार्शनिकों का इससे सांव्यवहारिक स्तर पर कोई विशेष विरोध नहीं रहा है, क्योंकि अकलंक आदि ने तो इसे प्रमाणलक्षण के रूप में स्वीकार किया भी है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में धर्मकीर्ति का यह प्रमाणलक्षण ही सर्वाधिक मान्य रहा है। यहां ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति ने अविसंवादिता का तात्पर्य, अर्थ और ज्ञान में सारूप्य या अभ्रान्तता न मानकर अर्थक्रियास्थिति को स्वीकार किया। **प्रमाणवार्तिक** (1/3) में वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि 'अर्थक्रिया की स्थिति ही अविसंवादिता' है। पुनः अर्थक्रिया की स्थिति का भी अर्थप्रापण की योग्यता के रूप में प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति के टीकाकार धर्मोत्तर ने इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। यहां यह ज्ञातव्य है कि दिग्नांग और धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाण लक्षण की विवेचना में जैन दृष्टिकोण को न तो पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और न ही उसकी समीक्षा की है। जबकि जैन दार्शनिकों ने दिग्नांग और धर्मकीर्ति दोनों की ही प्रमाण संबंधी अवधारणा को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। यद्यपि यहां यह ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने प्रमाणलक्षण की चर्चा में दिग्नांग की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट नामोल्लेखकपूर्वक दिग्नांग के प्रमाणलक्षण की समीक्षा नहीं करते हैं। अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उन्होंने उसे स्व और पर का आभासक तथा बाधविवर्जित ज्ञान कहा है (प्रमाणंस्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्, **न्यायावतार** 1)।

सिद्धसेन द्वारा प्रतिपादित इस प्रमाणलक्षण में नैयायिकों के समान ज्ञान के कारण (हेतुओं) को प्रमाण न कहकर ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। ज्ञान को ही प्रमाण मानने के संबंध में जैन और बौद्ध दार्शनिकों में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट रूप से तो अपने ग्रंथ में बौद्धों का नाम लेकर उनका खण्डन नहीं करते हैं, किंतु प्रमाणलक्षण की उनकी यह परिभाषा एक ओर ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद (योगाचार) का, दूसरी ओर बाह्यार्थवादी मीमांसकों और नैयायिकों की ऐकांतिक मान्यताओं का खण्डन कर उनमें समन्वय करती है। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद अर्थात् योगाचारदर्शन बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, इसलिए उनके अनुसार प्रमाण (ज्ञान) स्वप्रकाशक है। दूसरे शब्दों में ज्ञान अपने को ही जानता है। जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन के पश्चात् अकलंक, विद्यानंद, वादिदेवसूरि, हेमचंद्र आदि सभी अपने सम्बंधी ग्रंथों में बाह्यार्थ का निषेध करने वाले या यह मानने वाले कि ज्ञान केवल स्व प्रकाशक है, विज्ञानवादी बौद्धों का विस्तार से खण्डन करते हैं। उनकी समीक्षा का सार यह है कि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय रूप बाह्यार्थ का अभाव मानने पर स्वयं ज्ञान के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के अभाव में संभव नहीं है, इसके विरोध में बौद्धों का उत्तर यह है कि स्वप्न आदि में अर्थ के अभाव में ज्ञान होता है, किंतु उनका यह कथन सार्थक नहीं है। प्रथम तो यह कि सभी ज्ञान अर्थ के बिना होते हैं यह मानना युक्तिसंगत नहीं है, दूसरे यह कि स्वप्न में जिन वस्तुओं का अनुभव होता है, वे उसके पूर्व यथार्थ से अनुभूत होती हैं यहां यह भी ज्ञातव्य है कि सिद्धसेन दिवाकर ने अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक अथवा अनधिगतज्ञान नहीं माना है।

जहां तक धर्मकीर्ति द्वारा प्रमाण को अविसंवादक मानने का प्रश्न है जैन परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर ने भी **न्यायावतार** में प्रमाण को बाधविवर्जित कहा है। यद्यपि बाधविवर्जित और अविसंवादी में आंशिक समानता और आंशिक अंतर है, इसकी चर्चा आगे की गई है। जैन दर्शन में अकलंक एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने अष्टसहस्त्री में प्रमाणलक्षण का निरूपण करते हुए प्रमाण को अविसंवादी एवं अनधिगत अर्थ का ज्ञान माना है (प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् अष्टशती, **अष्टसहस्त्री**,पृ. 175)। यहां हम देखते हैं कि अकलंक ने बौद्ध दार्शनिकों में दिग्नांग और धर्मकीर्ति दोनों के प्रमाणलक्षण को समन्वित कर अपना प्रमाणलक्षण बनाया है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयं धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणलक्षण में अविसंवादिता के साथ-साथ अनधिगतता को स्वीकार किया था। इस प्रकार प्रमाणलक्षण के निरूपण में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति और जैनाचार्य अकलंक दोनों का मंतव्य समान हैं यही कारण है कि कुछ विद्वान् स्पष्ट रूप से

मानते हैं कि अकलंक ने जो प्रमाण लक्षण निरूपित किया है, वह बौद्धों से और विशेष रूप से धर्मकीर्ति से पभावित है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि अकलंक (8वीं शती) और धर्मकीर्ति (7वीं शती) में लगभग एक शती का अंतर है। अतः उनके चिंतन पर धर्मकीर्ति का प्रभाव परिलक्षित होना अस्वाभाविक नहीं है, किंतु आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि जैनन्याय के प्रमुख विद्वान् अकलंक जहां एक ओर **तत्त्वार्थवार्तिक** में प्रमाण को अनाधिगत ज्ञान मानने का खण्डन करते हैं, वहीं **अष्टशती** में में उसका समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। इस संदर्भ में जैन और बौद्ध न्याय के युवा विद्वान् डॉ. धर्मचंद्र जैन का यह कथन युक्ति संगत है कि क्षणिकवादी एवं प्रमाणविप्लववादी बौद्धों की तत्त्वमीमांसा व प्रमाणमीमांसा में अनाधिगत अर्थ के ग्राहक ज्ञान का प्रमाण होना उपयुक्त हो सकता है, किंतु नित्यानित्यवादी एवं प्रमाणसंप्लववादी जैन दार्शनिकों के मत में नहीं (**बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा,** पृ.79)

जैनन्याय में अनाधिगत अर्थात् अगृहीत-ग्राही ज्ञान या अपूर्वज्ञान को प्रमाणलक्षण में सर्वप्रथम स्थान अकलंक ने ही दिया था, उसके पश्चात् माणिक्यनंदी आदि अनेक दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाणलक्षण में अपूर्व या अनाधिगत शब्द का प्रयोग करते रहे हैं, किंतु अकलंक के निकटपरवर्ती विद्यानंद (लगभग 9वीं शती) ने **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** में स्पष्ट रूप से अपूर्व या अनाधिगत विशेषण को प्रमाणलक्षण में व्यर्थ माना है। (**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** 1/10/77)। उनके पश्चात् प्रभाचंद्र (दसवीं शती) ने अपूर्व या अनाधिगत अथ्र के ग्राही ज्ञान को प्रमाणलक्षण निरूपण में एकांतरूप से अव्यर्थ तो नहीं कहा, लेकिन इतना अवश्य कहा है कि प्रमाण कथंचित् ही अपूर्व अर्थ का ग्राही होता है, किंतु सर्वथा अपूर्ण का ग्राही नहीं होता।

जहां तक धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का प्रश्न है, यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर ने बाधविवर्जित कहकर किसी अर्थ में उसे स्वीकार किया है, किंतु बाधविवर्जित एवं अविसंवादकता दोनों एक नहीं हैं। बाधविवर्जित होने का अर्थ है स्वतः एवं अन्य किसी प्रमाण का विरोधी या अविसंवादी नहीं होना है, जबकि अविसंवादिता का सामान्य अर्थ है ज्ञान और ज्ञेय में सारूप्य या संगति। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि जैन दार्शनिक अकलंक ने धर्मकीर्ति के इ स अविसंवादकता नामक प्रमाण लक्षण को स्वीकार किया है। उनके परवर्ती माणिक्यनन्दी आदि अन्य दिगम्बर जैन आचार्यों ने भी उसका समर्थन किया, किंतु दिगम्बर विद्वान् विद्यानंद तथा श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धर्षि

(9वीं शती) ने प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण का खण्डन किया है। विद्यानंद का कहना है कि बौद्धों ने स्वसंवेदना, इन्द्रिय, मानस एवं योगज ऐसे चार प्रकार के प्रत्यक्ष माने हैं, किंतु बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के अनुसार ये प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होते हैं। निर्विकल्पक होने से व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं हो सकते और जो व्यवसायात्मक नहीं है, वह स्वविषय का उपदर्शक भी नहीं हो सकता है और जो स्वविषय का उपदर्शक नहीं हो सकता है वह अर्थ का प्रापक भी नहीं हो सकता है द्वौर जो अर्थ का प्रापक नहीं है, वह अर्थ से अविसंवादक कैसे हो सकता है? इस प्रकार विद्यानंद धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष-प्रमाण की अविसंवादकता का खण्डन कर देते हैं।

अनुमान के संदर्भ में भी विद्यानंद लिखते हैं कि बौद्धों के अनुसार अनुमान भ्रान्त है और यदि अनुमान भ्रान्त है तो फिर वह अविसंवादक कैसे हो सकता है? दूसरे अनुमान का आलम्बन सामान्य है और बौद्ध परम्परा के अनुसार सामान्य, मिथ्या, या अवास्तविक है। सामान्य के आलम्बन के बिना अनुमान संभव ही नहीं है, अतः उसके अविसंवादक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार विद्यानंद धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक नामक लक्षण का उन्हें मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों से खण्डन कर देते हैं। विद्यानंद का कहना है कि बौद्ध प्रमाणव्यवस्था में प्रमाण का अविसंवादक नामक लक्षण घटित नहीं हो सकता है। धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का खण्डन जैन दार्शनिक विद्यानंद के अतिरिक्त अभयदेवसूरि ने अपनी **सन्मतितर्कप्रकरण** की **तत्त्वबोधायनीटीका** में, सिद्धर्षि ने **न्यायावतार** की **विवृत्ति** में, प्रभाचंद्र ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में तथा हेमचंद्र ने **प्रमाणमीमांसा** की स्वोपज्ञटीका में इसका खण्डन किया है। विस्तार भय से यहां उस समस्त चर्चा में जाना सम्भव नहीं है। ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षण में अविसंवादकता का जो खण्डन किया है वह बौद्धों की पारमार्थिक दृष्टि के आधार पर ही किया है। जैनों का कथन है कि अविसंवादिता नामक प्रमाणलक्षण पारमार्थिकदृष्टि से घटित होना चाहिए, तभी अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। किंतु यह भी सत्य है कि धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण को सांव्यहारिक दृष्टि से ही घटित करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि बौद्ध दार्शनिक प्रमाणव्यवस्था को सांव्यवहारिक आधार पर ही मान्य करते हैं, परमार्थिक दृष्टि से तो उनके यहां प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था बनती ही नहीं है।

प्रमाणों के प्रकार

जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या में कालक्रम में परिवर्तन होता रहा है। अर्धमागधी जैन आगमों में **भगवतीसूत्र** एवं **अनुयोगद्वारसूत्र** में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम ऐसे चार प्रमाण प्रतिपादित किए गए हैं। **स्थानांगसूत्र** में इन्हीं चार प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित किया गया है। इसी सूत्र में अन्यत्र व्यवसाय शब्द से अभिहित करते हुए प्रमाणों के तीन भेद बताए गए हैं- 1. प्रत्यक्ष, 2. प्रात्ययिक और 3. अनुगामी। इस प्रकार जैन आगमों में कहीं चार और कहीं तीन प्रमाणों के उल्लेख मिलते हैं। आगमों में जिन चार या तीन प्रमाणों का उल्लेख हुआ है वे क्रमशः न्यायदर्शन एवं सांख्यदर्शन को भी मानय रहे हैं। चाहे इन प्रमाणों के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद विवेचनाओं में अंतर हो, किंतु नामों के संदर्भ में कोई मतभेद नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण के भेदों के सम्बंध में जैनों ने न्यायदर्शन का अनुकरण न करके अपनी ही दृष्टि से चर्चा की है और वहां प्रत्यक्ष के 'केवल' और 'नो केवल' ऐसे दो विभाग किए गए हैं। यही दोनों विभाग परवर्ती जैन न्याय के ग्रंथों में भी सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष के रूप में उपलब्ध होते हैं। **अनुयोगद्वारसूत्र** में इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर उसके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् मानस प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद किए हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का उल्लेख होते हुए भी उसके भेद-प्रभेद की अपेक्षा से जैन दर्शन और न्याय दर्शन में मतभेद है।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जैन आगमों में प्रमाण के जो चार भेद किए गए हैं वे ही चार भेद बौद्ध ग्रंथ **उपायहृदय** में भी मिलते हैं। (अथ कतिविधं चतुर्विधं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमचेति- उपायहृदय, पृ.13)

उपायहृदय को यद्यपि चीनी स्रोत नागार्जुन की रचना मानते हैं, किंतु जहां नागार्जुन **वैदल्यसूत्र** में एवं **विग्रहव्यावर्तनी** में प्रमाण एवं प्रमेय का खण्डन करते हैं, वहां **उपायहृदय** में वे उनका मण्डन करें, यह संभव प्रतीत नहीं होता, फिर भी यह ग्रंथ बौद्ध न्याय का प्राचीन ग्रंथ होने के साथ-साथ न्यायदर्शन और जैनों की आगमिक प्रमाण व्यवस्था का अनुसरण करना प्रतीत होता है। यहां एक विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैनग्रंथ **अनुयोगद्वारसूत्र,** बौद्धग्रंथ **उपायहृदय,** न्यायदर्शन और सांख्यदर्शन में अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्- ऐसे तीन भेद भी समान रूप से उपलब्ध होते हैं। यहीं ज्ञातव्य है कि, बौद्धग्रंथ **उपायहृदय, न्यायसूत्र** और सांख्यदर्शन में दृष्टसाधर्म्यवत् के स्थान पर 'सामान्यतोदृष्ट' शब्द का उल्लेख हुआ है। ऐसा लगता है कि,

भारतीय न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विकास के काल में जैन, बौद्ध, न्याय एवं सांख्य दर्शन में कुछ एकरूपता थी, जो कालांतर में नहीं रही। प्रमाण संख्या को लेकर जहां जैन परम्परा में कालक्रम में अनेक परिवर्तन हुए हैं वहां बौद्ध परम्परा में **उपायहृदय** के पश्चात् एक स्थिरता परिलक्षित होती है। उपायहृदय के पश्चात् दिग्नांग से लेकर परवर्ती सभी बौद्ध आचार्यों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रमाण माने हैं।

प्रमाणों की संख्या को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार की अवधारणाएं मिलती हैं। सर्वप्रथम आगम युग में जैन परम्परा में चार प्रमाण स्वीकार किए गए थे। उसके पश्चात् **तत्त्वार्थसूत्र** (2री-3री शती) में प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ऐसे दो भेद किए गए। सिद्धसेन दिवाकर (चौथी शती) ने अपने **न्यायावतार** में आगमिक युग के औपम्य को अलग करके तीन प्रमाण ही स्वीकार किए। **तत्त्वार्थसूत्र** में पांच ज्ञानों को प्रमाण कहकर मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण के रूप में तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया था। उमास्वाति का प्रमाणवाद वस्तुतः आगमिक पंच ज्ञानवाद से प्रभावित है। जबकि सिद्धसेन की प्रमाण व्यवस्था आगमिक एवं अन्य दर्शनों के प्रमाणवाद से प्रभावित है। सिद्धसेन के पश्चात् और अकलंक के पूर्व तक हरिभद्र आदि जैन आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण ही मानते रहे, किंतु लगभग आठवीं शताब्दी में अकलंक ने सर्वप्रथम स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण मानकर जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या छः निर्धारित की। अकलंक ने अपने ग्रंथों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं, उनके पश्चात् सिद्धर्षि, विद्यानंद, प्रभाचंद्र, वादिदेवसूरि, हेमचंद्र आदि जैन आचार्यों ने अपनी-अपनी कृतियों में विस्तार से स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का स्वतंत्र प्रमाण्य स्थापित किया है। विस्तारभय से यहां उन तर्कों को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, फिर भी यह ज्ञातव्य है कि अकलंक, विद्यानंद, प्रभाचंद्र, वादिदेवसूरि आदि ने बौद्धाचार्यों द्वारा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण नहीं मानने का अनेक युक्तियों से खण्डन किया है।

जहां तक आगम प्रमाण का प्रश्न है, बौद्ध वैशेषिकों के समान ही इसका अंतर्भाव अनुमान प्रमाण में करते हैं, जबकि जैन उसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं, किंतु यहां यह ज्ञातव्य है कि, जैन दार्शनिकों के समान ही धर्मकीर्ति भी शब्द को पौरुषेय मानते हैं, फिर भी वे उसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते, जबकि जैन दार्शनिक अकलंक, प्रभाचंद्र,

वादिदेवसूरि, हेमचंद्र आदि ने आगम को स्वतंत्र प्रमाण मानने के संदर्भ में अनेक युक्तियां दी हैं, साथ ही बौद्धों द्वारा आगम को अनुमान में समाहित करने के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा भी की है। जैन दार्शनिकों का यह वैशिष्ट्य है कि उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम का परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव करके भी प्रत्येक को स्वतंत्र रूप से प्रमाण माना है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र रूप से प्रमाण का स्थान देना केवल जैनदर्शन का ही वैशिष्ट्य है। अन्य दर्शनों ने इनकी उपयोगिता को तो स्वीकार किया, किंतु उन्हें स्वतंत्र प्रमाण होने का गौरव नहीं दिया।

प्रमेय का स्वरूप एवं समीक्षा

जहां तक प्रमेय का प्रश्न है, जैन दर्शन में उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणयुक्त सामान्य, विशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुतत्त्व या अर्थ को ही समस्त प्रमाणों का विषय माना है। जैन दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों के समान अलग-अलग प्रमाणों के लिए अलग-अलग प्रमेयों की व्यवस्था नहीं करते हैं। वस्तुतः जहां बौद्ध प्रमाणव्यवस्थावादी हैं वहां जैन प्रमाणसंप्लववादी हैं। बौद्ध दर्शन में प्रमेय दो हैं- 1. स्वलक्षण और 2. सामान्य लक्षण। पुनः उसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण अर्थ अर्थात् परमार्थसत् है और अनुमान प्रमाण का विषय सामान्यलक्षण या संवृत्तिसत् है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति स्वलक्षण को ही एक मात्र प्रमेय मानते हैं, क्योंकि उसी में अर्थक्रियासामर्थ्य है। जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के दर्शन को विज्ञानद्वैतवाद माना है, विज्ञानद्वैतवादी होने के कारण धर्मकीर्ति के मत में परमार्थसत् तो एक ही हैं अतः प्रमेय भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते, यदि सामान्यलक्षण को प्रमेय कहा जाएगा तो वह तो काल्पनिक और अवस्तु रूप है, वह प्रमेय नहीं हो सकता है। पुनः जैन दार्शनिकों का कहना है प्रमेय या अर्थ जब भी प्रतिभासित होता है, वह सामान्य विशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य की अनुभूति नहीं है, उसी प्रकार सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य की भी कहीं अनुभूति नहीं है। व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि अनुस्यूत हैं, अतः बौद्ध दार्शनिकों का सामान्यलक्षण प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तुसत् या स्वलक्षण नहीं है। पुनः अकलंक का कहना है कि मात्र स्वलक्षण भी प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका भी अलग से कहीं बोध नहीं होता है और न वह अभिधेय होता है। अतः प्रमाण का विषय या प्रमेय तो सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही हैं। पुनः बौद्धों ने जिसे स्वलक्षण कहा उसे या तो क्षणिक मानना

होगा या नित्य मानना होगा, किंतु एकांत क्षणिक और एकांत नित्य में भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं हैं, जबकि स्वलक्षण को अर्थक्रिया में समर्थ होना चाहिए, अतः जैन दार्शनिकों का कथन है किं नित्यानित्य या उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु ही प्रमेय हो सकती है। यहां ज्ञातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक भी परमतत्त्व, परमार्थ या स्वलक्षण को न तो नित्य मानते हैं और न अनित्य मानते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन में मात्र अंतर यह है कि जहां जैन दर्शन विधिमुख से उसे नित्यात्यि, सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक कहता है, वहां बौद्ध दर्शन उसके सम्बंध में निषेधमुख से यह कहता है कि वह सामान्य भी नहीं हैं, विशेष भी नहीं है, शाश्वत भी नहीं है, विनाशशील भी नहीं है आदि। प्रमेय के स्वरूप के सम्बंध में दोनों में जो अंतर है वह प्रतिपादन की विधिमुख और निषेधमुख शैली का है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप के सम्बंध में क्वचित् समानताएं और क्वचित् भिन्नताएं हैं।

उपसंहार

बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा में जो समानताएं और असमानताएं परिलक्षित होती हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है-

1. जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ही दो प्रमाण मानते हैं, किंतु जहां जैनदर्शन प्रमाण के इस द्विविध में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का उल्लेख करता है, वहां बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रमाण के द्विविधवर्गीकरण के सम्बंध में एकमत होते हुए भी उनके नाम और स्वरूप को लेकर दोनों में मतभेद है। दोनों दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण तो समान रूप से स्वीकृत हैं, किंतु दूसरे प्रमाण के रूप में जहां बौद्ध अनुमान का उल्लेख करते हैं, वहां जैन परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हैं और परोक्ष प्रमाण के पांच भेदों में एक भेद अनुमान प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्षप्रमाण में वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं।

2. बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए दो अलग-अलग प्रमाणों की व्यवस्था की गई है, क्योंकि उनके अनुसार स्वलक्षण का निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, किंतु जैन दर्शन वस्तुतत्त्व को सामान्यविशेषात्मक मानकर यह मानता है कि जिस प्रमेय को किसी एक प्रमाण को जाना जाता है उसे अन्य-अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है, अर्थात् सभी प्रमेय सभी प्रमाणों के विषय हो सकते हैं, जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से जाना जा सकता है। इस आधार पर

विद्वानों ने बौद्धदर्शन को प्रमाणव्यवस्थावादी और जैनदर्शन को प्रमाणसंप्लववादी कहा है।

3. प्रमाणलक्षण के सम्बंध में भी दोनों में कुछ समानताएं और कुछ मतभेद हैं। प्रमाण की अविसंवादकता दोनों को मान्य है, किंतु अविसंवादकता के तात्पर्य को लेकर दोनों में मतभेद है। जहां जैनदर्शन अविसंवादकता का अर्थ ज्ञान में आत्मगत संगति और ज्ञान और उसके विषय (अर्थ) में वस्तुगत संगति और उसका प्रमाणों से अबाधित होना मानता है, वहीं बौद्धदर्शन अविसंवादकता का सम्बंध अर्थक्रिया से जोड़ता है। बौद्धदर्शन में अविसंवादकता का अर्थ है अर्थक्रियास्थिति, अवंचकता और अर्थप्रापकता। इस प्रकार दोनों दर्शनों में अविसंवादिता का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। दूसरे बौद्धदर्शन में अविसंवादिता को सांव्यवहारिक स्तर पर माना गया है, जबकि जैन दर्शन का कहना है कि अविसंवादिता पारमार्थिक स्तर पर होना चाहिए। प्रमाण के दूसरे लक्षण अनधिगत अर्थ का ग्राहक होना, अकलंक आदि कुछ दार्शनिकों को तो मान्य है, किंतु विद्यानंद आद कुछ जैन दार्शनिक इसे प्रमाण का आवश्यक लक्षण नहीं मानते हैं।

4. जैन और बौद्ध दोनों दर्शन इस सम्बंध में एकमत हैं कि प्रमाण ज्ञानात्मक है। वे ज्ञान के कारण या हेतु (साधन) को प्रमाण नहीं मानते हैं, फिर भी जहां जैन दार्शनिक प्रमाण को व्यवसायात्मक मानते हैं वहां बौद्ध दार्शनिक कम से कम प्रत्यक्ष प्रमाण को तो निर्विकल्पक मानकर व्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।

5. बौद्ध दर्शन में जहां प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक और अनुमान प्रमाण को सविकल्पक माना गया है वहां जैन दर्शन दोनों ही प्रमाणों को सविकल्प मानता है, क्योंकि उनके अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयायात्मक ही होता है। उनका कहना है कि प्रमाण ज्ञान है और ज्ञान सदैव सामान्यविशेषणात्मक और सविकल्पक ही होता है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में दर्शन और ज्ञान में भेद किया गया है। यहां दर्शन को सामान्य एवं निर्विकल्पक और ज्ञान को विशेष और सविकल्पक कहा गया है। बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः जैनों का 'दर्शन' है।

6. जैनदर्शन में सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को ही अभ्रान्त माना है, जबकि बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष को अभ्रान्त तथा अनुमान को भ्रान्त कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता तो दोनों को स्वीकार्य है, किंतु अनुमान की अभ्रान्तता के सम्बंध में दोनों में वैमत्य (मतभेद) है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो भ्रान्त हो, उसे

प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

7. बौद्धदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को अभ्रान्त कहकर उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है, जबकि जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को, जिसे वे अपनी पारिभाषिक शैली में 'दर्शन' कहते हैं क्योंकि वह मात्र अनुभूत है, निर्णीत नहीं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक होने से सविकल्पक ही होता है निर्विकल्पक दर्शन अर्थात् बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है।

8. प्रमाण की परिभाषा को लेकर भी दोनों में कथंचित् मतभेद देखा जाता है। बौद्ध दर्शन में प्रमाण को स्व का प्रकाशक माना गया है, पर का प्रकाशक नहीं। क्योंकि उनके यहां योगाचार दर्शन में अर्थ अर्थात् प्रमाण का विषय (प्रमेय) भी वस्तुरूप न होकर ज्ञान रूप ही है। जबकि जैन दर्शन में प्रमाण को स्व पर अर्थात् अपना और अपने अर्थ का प्रकाशक माना गया है। (स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) जैनों के अनुसार प्रमाण स्वयं अपने को और अपने विषय को दोनों को ही जानता है। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन 'प्रत्यक्ष' को कल्पनाजन्य तो नहीं मानते हैं, किंतु कल्पना रहित होने का तात्पर्य है वस्तुसत् अर्थात् वस्तुगतसत्ता (Objective Reality) होना है, जबकि बौद्ध दर्शन में कल्पना रहित होने का अर्थ अनुभूत सत् या आत्मगतसत्ता (Subjective Reality) है।

9. बौद्ध दार्शनिक अनुमान के दो भेद करते हैं, स्वार्थ और परार्थ। जैन दार्शनिक भी अनुमान के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं, किंतु जैनदार्शनिक सिद्धसेन **न्यायावतार** में प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अतिरिक्त कुछ अन्य जैन आचार्यों जैसे शांतिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।

10. प्रत्यक्षप्रमाण के स्वरूप एवं भेदों को लेकर भी दोनों में मतभेद देखा जा सकता है। प्रथम तो जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है जहां बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित और निर्विकल्पक मानते हैं वहां जैन दार्शनिक उसे सविकल्पक कहते हैं। पुनः बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के जैनों के समान सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद नहीं करते हैं। उनके यहां प्रत्यक्ष के चार भेद हैं - 1. स्वसंवेदना प्रत्यक्ष, 2. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, 3. मानस प्रत्यक्ष और 4. योगज प्रत्यक्ष। प्रथम तो जहां जैन इंद्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, वहां बौद्ध प्रत्यक्ष में ऐसा कोई विभाजन नहीं

करते। पुनः जहां जैन दर्शन में इंद्रिय और मानस प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा- ऐसे चार भेद किए गए हैं वहां बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। बौद्ध दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में योगज प्रत्यक्ष को रखा गया है, जबकि जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान या पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान को रखा गया है। जहां तक बौद्ध स्वसंवेदन का प्रश्न है, जैनों ने उसे दर्शन कहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप और प्रकारों को लेकर दोनों में मतभेद है।

11. पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इंद्रिय प्रत्यक्ष में जहां बौद्ध दार्शनिक श्रोतेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं, वहां जैन दार्शनिक केवल चक्षु-इंद्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं। जैनों के अनुसार श्रोतेन्द्रिय शब्द का ग्रहण इन्द्रिय सम्पर्क होने के आधार पर ही करती हैं, दूर से नहीं करती है। इस प्रकार श्रोतेन्द्रिय की प्राप्यकारिता को लेकर दोनों में मतभेद है। रत्नप्रभ की **रत्नाकरावतारिका** में अनेक तर्कों के आधार पर श्रोतेन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। किंतु चक्षु-इन्द्रिय को दोनों ही अप्राप्यकारी मानते हैं।

12. हेतु के लक्षण को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। जहां बौद्ध दार्शनिक त्रैरूप्य हेतु अर्थात् पक्षधर्मत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष-असत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहां जैन दार्शनिक साध्यसाधन अविनाभाव अर्थात् अन्यथानुपलब्धि को ही हेतु का एकमात्र लक्षण बताते हैं। जैन दार्शनिक पात्रकेसरी ने तो एतदर्थ **त्रिलक्षणकदर्शन** नामक स्वतंत्र ग्रंथ की ही रचना की थी।

13. अनुपलब्धि को जहां बौद्ध दार्शनिक मात्र निषेधात्मक या अभाव रूप मानते हैं, वहां जैन दार्शनिक उसे विधि-निषेध रूप मानते हैं।

विभज्यवाद : भाषा-विश्लेषण का पूर्वरूप

बुद्ध के समय अनेक दार्शनिक विचारधाराएं प्रचलित थीं। जैनों के अनुसार[1] उस समय क्रियावाद-अक्रियावाद आदि 363 और बौद्धों के अनुसार[2] 62 दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित थे। बुद्ध और महावीर ने इन सबके दार्शनिक विरोधों को देखा और पाया कि ये सभी दार्शनिक मतवाद दार्शनिक जिज्ञासाओं के एकपक्षीय समाधानों पर खड़े हुए हैं और इसलिए परस्पर एक-दूसरे के विरोधी बन गए हैं। उनकी दृष्टि में तत्त्व-मीमांसीय प्रश्नों के एकपक्षीय एवं निरपेक्ष उत्तर ही मिथ्या धारणाओं को जन्म देते हैं। आत्मा नित्य है या अनित्य है? शरीर और आत्मा भिन्न है या अभिन्न? आदि प्रश्नों का उत्तर जब ऐकांतिक या निरपेक्ष रूप में दिया जाता है तो वस्तु-स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन नहीं हो पाता। विश्व की समस्त सत्ताएं और समग्र घटनाएं अपने आप में एक जटित तथ्य है और इन तथ्यों का सम्यक् प्रतिपादन तो विश्लेषण का पद्धति के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए भगवान बुद्ध ने एक ऐसी प्रणाली विकसित की, जिसमें दार्शनिक एवं जटिल प्रश्नों के उत्तर उन्हें विविध पहलुओं में विश्लेषित कर दिए जाते थे। प्रश्नों को विश्लेषित कर उत्तर देने की यह पद्धति जैन और बौद्ध परम्पराओं में विभज्यवाद के नाम से जानी जाती है। विभज्यवाद एक विश्लेषणवादी (Analytic method) पद्धति है। प्रश्नों का यह विश्लेषण ही हमें तात्त्विक समस्याओं की सही समझ दे सकता है। यही कारण था कि अनेक संदर्भों में बुद्ध ने समकालीन भाषा-विश्लेषकों के समान ही तत्त्व-मीमांसा का प्रत्याख्यान कर तात्त्विक प्रश्नों की आनुभविक स्तर पर ही व्याख्या करना उचित समझा और यह कहा कि जहां आनुभविक स्तर पर व्याख्या करना सम्भव नहीं हो, वहां मौन रहना ही अधिक श्रेयस्कर है। महावीर ने भी अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे तात्त्विक चर्चा या व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान में विभज्यवादी या विश्लेषणात्मक पद्धति ही अपनाएं और निरपेक्ष रूप से कोई भी कथन न करें।[3] बुद्ध भी स्वयं अपने को अविभज्यवादी कहते थे।[4]

बौद्ध-ग्रंथ अंगुत्तर निकाय में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार पद्धतियां प्रस्तुत की गई हैं- 1. एकांशवाद- प्रश्न का एकपक्षीय या निरपेक्ष उत्तर देना, 2. विभज्यवाद- प्रश्न को विभाजित करके उसके प्रत्येक पक्ष का सापेक्ष उत्तर देना, 3. प्रतिप्रश्न- प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर उस पर प्रतिप्रश्न कर देना और 4. अव्याकृतवाद- प्रश्न को

अव्याकृत अर्थात् उत्तर के अयोग्य कह देना।[5] बुद्ध ने तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के संदर्भ में मुख्यतः अव्याकृतवाद और विभज्यवाद की पद्धति को अपनाया। महावीर ने भी किसी सीमा तक इन दोनों पद्धतियों को स्वीकार किया। फिर भी परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि में अव्याकृतता का सिद्धांत प्रमुख और विभज्यवाद (विश्लेषणवाद) गौण बन गया और अंत में शून्यवाद का विकास हुआ, जिसमें विभज्यवादी (विश्लेषणवादी) पद्धति सत्ता की अव्याकृतता (शून्यता) का साधन बन गई। जबकि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने इसी विभज्यवाद (विश्लेषणवाद) के आधार पर स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास किया, जिसमें अव्याकृतवाद अवक्तव्य-भंग के रूप से सप्तभंगी का एक भंग मात्र रह गया और उस अवक्तव्यता को भी सापेक्ष रूप में स्वीकार किया गया। मात्र यही नहीं, जैन आचार्यों ने एकांशवाद की पद्धति को अपने नए सिद्धांत के साथ समायोजित करके उसे भी स्याद्वाद के अधीन कर लिया। जैनों के स्याद्वाद और नयवाद में किस प्रकार समकालीन भाषा-विश्लेषणवाद के तत्त्व उपस्थित है, इसकी चर्चा तो हम यथाप्रसंग करेंगे ही, यहां इस प्रास्तविक कथन में मात्र इतना ही बताना चाहते हैं कि भाषा-विश्लेषण की पद्धति के बीज विभज्यवाद के रूप में किस प्रकार ईसा की 6 ठी शताब्दी पूर्व भी जैन और बौद्ध परम्पराओं में उपस्थित थे। विभज्यवाद का शाब्दिक अर्थ भी विश्लेषणवाद (Analytic-method) ही है। वस्तुतः जैन और बौद्ध परम्पराओं में स्वीकृत विभज्यवाद, जिसका परवर्ती विकास क्रमशः स्याद्वाद और शून्यवाद में हुआ, मूलतः विश्लेषण की पद्धति है और इस रूप में वह समकालीन पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण का ही पूर्वरूप या अग्रह है।

विभज्यवाद को स्पष्ट करने के लिए यहां हम कुछ दार्शनिक और व्यवहारिक प्रश्न को लेंगे और देखेंगे कि विभज्यवादी उसका विश्लेषण किस प्रकार करता है। मान लीजिए- सिकी ने प्रश्न किया कि शरीर और चेतना शरीर और जीव या आत्मा भिन्न-भिन्न है या अभिन्न है? विभज्यवादी इसका सीधा उत्तर न देकर पहले तो यह जानना चाहेगा कि भिन्नता अथवा अभिन्नता से उसका क्या तात्पर्य है? दूसरे यह कि यह भिन्नता और अभिन्नता किस संदर्भ में पूछी जा रही है? भिन्नता से उसका तात्पर्य तथ्यात्मक भिन्नता से है अथवा वैचारिक या प्रत्ययात्मक भिन्नता से है? पुनः यह भिन्नता किस संदर्भ में पूछी गई है- आनुभविक जगत् के संदर्भ में या अन्य किसी अति-लौकिक के संदर्भ में पूछी जा रही है? क्योंकि भिन्नता शब्द के प्रत्येक तात्पर्य के आधार पर और प्रत्येक संदर्भ

में इस प्रश्न के उत्तर अलग-अलग हो सकते हैं। जैसे शरीर और चेतना को विचार के क्षेत्र में पृथक्-पृथक् किया जा सकता है, किंतु तथ्यात्मक क्षेत्र में हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। वे चिंतन के क्षेत्र में भिन्न माने जा सकते हैं, लेकिन जागतिक अनुभव के क्षेत्र में तो अभिन्न है, क्योंकि जगत् में शरीर के पृथक् कहीं चेतना उपलब्ध नहीं होती है। पुनः मृत व्यक्ति के संदर्भ में शरीर की चेतना से पृथक् माना जा सकता है, किंतु जीवित व्यक्ति के संदर्भ में उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं माना जा सकता। अतः महावीर और परवर्ती जैन आचार्यों ने कहा कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं।[6] इसी प्रकार व्यावहारिक जीवन में यदि यह पूछा जाए कि सोना अच्छा है या जागना अच्छा है, तो इस प्रश्न का कोई भी सही उत्तर जब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि यह स्पष्ट न हो कि सोने और जागने से प्रश्नकर्ता का क्या तात्पर्य है। पुनः यह बात किस प्रसंग में और किस व्यक्ति के सम्बंध में पूछी जा रही है इसका भी महत्व होगा। उदाहरण के लिए सोना कई उद्देश्यों में हो सकता है- शरीर की थकावट मिटाकर स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए सोना या आलस्यवश सोना, इसी प्रकार सोने का कई स्थिति में अर्थ हो सकता है- रात्रि में सोना, दिन में सोना, कक्षा में सोना। पुनः सोने वाले व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं- हिंसक, अत्याचारी और दुष्ट अथवा सज्जन, सदाचारी और सेवाभावी। यहां किसलिए, कब और किसका यह सभी तथ्य सोने या जागने के तात्पर्य के साथ जुड़े हुए हैं। इनका विश्लेषण किए बिना हम निरपेक्ष रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि सोना अच्छा है या बुरा है। शारीरिक स्फूर्ति के लिए रात्रि में सोना अच्छा हो सकता है, जबकि आलस्यवश दिन में सोना बुरा हो सकता है। **भगवती सूत्र** में जयंति ने जब महावीर से यही प्रश्न पूछा था तो उन्होंने कहा था कि दुराचारी का सोना अच्छा है और सदाचारी का जागना अच्छा है।[7] विभज्यवाद अन्य कुछ नहीं अपितु प्रश्नों या प्रत्ययों का विश्लेषण करके उन्हें सापेक्ष रूप से स्पष्ट करना है। आज का भाषा-विश्लेषण भी प्रत्ययों या शब्दों के अर्थ का विश्लेषण करके आनुभविक संदर्भ में उनकी व्याख्या करता है। निष्कर्षों में आंशिक भिन्नता के होते हुए भी पद्धति की दृष्टि से विभज्यवाद और भाषा-विश्लेषण में समानता है और इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आज से 2500 वर्ष पूर्व प्रस्तुत महावीर और बुद्ध का विभज्यवाद समकालीन भाषा-विश्लेषणवाद का पूर्वज है।

संदर्भ -

1. सूयगडेण असीयस्स किरियावाइसयस्स, चउरासींईए अकिरिया बाइएणं, सत्तट्ठीए अण्णानिवाईणं, बत्तीसाए वेणइयवाईणं, तिण्णतिसट्ठीणं पासंडितयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ।

- नन्दिसूत्र, 84

2. द्वासट्ठिदिट्ठिगतानि....। देखें, दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त।

- Pali-English Dictionary, p.156

3. भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा। - सूत्रकृतांग, 1।14।22

4. विभज्जवादो खो अहमेत्थ माणव नाहमेत्थ एकंसवादो।

- मज्झिमनिकाय, Vol. II, पृ. 468 (सुभसत्त)

5. चत्तारिमानि, भिक्खवे, पञ्हव्याकरणानि। कतमानि चत्तारि? अत्थि, भिक्खवे, पञ्हो एकंस व्याकरणीयो, अत्थि, भिक्खये, पञ्हो विभज्जव्याकरणीयो, अत्थि, भिक्खवे, पञ्हो पटिपुच्छा व्याकरणीयो, अत्थि, भिक्खवे, पञ्हो ठपनीयो। इमानि खो, भिक्खवे, चत्तारि पञ्हव्याकरणानीति।

एकंसवचनं एकं, विभज्जवचनापरं।
ततियं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ठापये॥

- अंगत्तुरनिकाय, Vol. II, पृ.48

(चतुक्कानिपातो रोहितस्स वग्गो पञ्ह व्याकरणसुत्तं)।

6. आया, भन्ते! काये, अन्ने काये ?

गायेमा ! आया वि काये अन्ने वि काये। - भगवती, 13/7

- तुलनीय - मज्झिमनिकाय, Vol. II, पृ. 175-177

7. सुत्तत्तं, भन्ते ! साहू, जागरियत्तं साहू ?

जयंति ! अत्थ एगइयाणं जीवाणं सुत्ततं साहू, अत्थ एगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू। .... अहम्मिया .... जीवाणं सुत्तत्तं साहू। .... धम्मिया जीवाणं जागरियत्तं साहू। भगवती सूत्र, 12।2।

बौद्धदर्शन में बुद्ध 'व्यक्ति' नहीं 'प्रक्रिया' (एक संस्मरण)

मेरे शोध-छात्र श्री रमेशचंद्र गुप्त 'तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा' पर शोध कार्य कर रहे थे। हम लोगों के सामने मुख्य समस्या थी कि ईश्वर और आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करने वाले क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन में बुद्ध, बोधिसत्व और त्रिकाय की अवधारणाओं की संगतिपूर्ण व्याख्या कैसे सम्भव है? जब किसी नित्य आत्मा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है, तो हम कैसे कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है। पुनः जब आत्मा ही नहीं है तब बोधिचित्त का उत्पात किसमें होता है? पुनः बौद्ध दर्शन यह भी मानता है कि प्रत्येक सत्व बुद्ध-बीज है, किंतु जब सत्व की ही क्षण मात्र से अधिक सत्ता नहीं है तो वह बुद्ध-बीज कैसे वह बोधिसत्व होकर विभिन्न जन्मों में बोधिपरिमिताओं की साधना करता हुआ बुद्धत्व को प्राप्त करेगा? यदि सत्ता मात्र क्षण-जीवी है तो क्या बुद्ध का अस्तित्त्व भी क्षण-जीवी है?[1]

महासंधिकों ने तो बुद्ध के रुपकाय को भी अमर और उसकी आयु को अनन्त माना है।[2] सद्म्पुण्डरीक में भी बुद्ध की आयु अपरिमित कही गई है।[3] किंतु यदि बुद्ध का रुपकाय अमर और आयु अपरिमित या अनन्त है तो फिर बौद्ध दर्शन की क्षणिकवादी अवधारणा कैसे सुसंगत सिद्ध होगी?

पुनः बौद्धदर्शन में यह भी माना जाता है कि बुद्ध निर्माणकाय के द्वारा नाना रूपों में प्रकट होकर लोहित के रूप में उपदेश करते हैं, तो फिर यह समस्या स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि किसी नित्य-तत्त्व के अभाव में इस निर्माणकाय की रचना कौन करता है? यदि विशुद्धिमग्ग की भाषा में हम मात्र क्रिया की सत्ता मानें, कर्त्ता की नहीं, तो फिर कोई व्यक्ति मार्ग का उपदेशक कैसे हो सकता है? धर्मचक्र का प्रवर्त्तन कौन करता है? वह कौन सा सत्व या चित्त है, जो बुद्धत्व को प्राप्त होता है और परम कारुणिक होकर जन-जन के कल्याण के लिए युगों-युगों तक प्रयत्नशील बना रहता है? महायानसूत्रालंकार में यह भी कहा गया है कि बुद्ध के तीनों काय, आश्रय और कर्म से निर्विशेष हैं। इन तीनों कार्यों में तीन प्रकार की नित्यता है, जिनके कारण तथागत नित्य कहलाते हैं।[4] समस्या यह है कि एकान्तरूप से क्षणिकवादी बौद्ध के दर्शन में नित्य निकायों की अवधारणा कैसे सम्भव हो सकती है?

ये सभी समस्याएं हमारे मानस को झकझोर रही थीं और हम यह निश्चित नहीं

कर पा रहे थे कि अनात्मवादी बौद्ध दर्शन के सांचे में इन विसंगतियों का निराकरण कैसे सम्भव हो सकता है? इस सम्बंध में हमने बौद्ध-विद्या एवं दर्शन के विद्वानों से विचार-विमर्श किए, परंतु ऐसा कोई समाधान नहीं मिला जो हमारे मानस को पूर्ण संतोष दे सके।

इन्हीं समस्याओं को लेकर हमनें अन्ततोगत्वा वाराणसी के बौद्धधर्म एवं दर्शन के वरिष्ठ विद्वान् पं. जगन्नाथजी उपाध्याय की सेवा में उपस्थित होने का निश्चय किया और एक दिन उनके पास पहुंच ही गए। हमने उनसे इन समस्याओं के संदर्भ में लगभग दो घंटे तक चर्चा की। इन समस्याओं के सम्बंध में उनसे हमें जो उत्तर प्राप्त हुए, उनसे न केवल हमें संतोष ही हुआ, बल्कि यह भी बोध हुआ कि पं. जगन्नाथजी उपाध्याय ऐसे बहुश्रुत विद्वान् हैं, जो बौद्धधर्म एवं दर्शन को उसके ही धरातल पर खड़े होकर समझने और उसके सम्बंध में उठाई गई समस्याओं का उसकी ही दृष्टि से समाधान देने की सामर्थ्य रखते हैं। सम्भवतः उनके स्थान पर दूसरा कोई पण्डित होता तो वह इन समस्याओं को बौद्धदर्शन की कमजोरी कहकर अलग हो जाता। किंतु उन्होंने जो प्रत्युत्तर दिए, वे इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने निष्ठापूर्वक श्रमण-परम्परा का और विशेष रूप से बौद्ध परम्परा का गम्भीर अध्ययन किया था। यद्यपि नित्य आत्म तत्त्व के अभाव में कर्म-फल, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि की समस्याओं का समाधान बौद्धदर्शन के अनात्मवादी और क्षणिक ढांचे में कैसे सम्भव है? इस समस्या के समाधान के लिए प्रो. हिरियन्ना ने अपने ग्रंथ 'भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व' (Elements of Indian Philosophy) में किसी सीमा तक एक समाधान देने का प्रयत्न किया है, किंतु पण्डित जगन्नाथजी उपाध्याय ने बुद्धत्व की समस्याओं का इसी दृष्टि से जो समाधान प्रस्तुत किया उसके आधार पर वे निश्चित ही बौद्ध दर्शन के प्रत्युत्पन्नमति के श्रेष्ठ दार्शनिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'बुद्ध' की अवधारणा के संदर्भ में उपर्युक्त समस्याओं का समाधान न तो हमें ग्रंथों से और न विद्वानों से प्राप्त हो सका था। उपर्युक्त समस्याओं के संदर्भ से प्रज्ञापुरुष पं. जगन्नाथजी उपाध्याय ने जो समाधान दिए थे, उनकी भाषा चाहे आज हमारी अपनी हो, परंतु विचार उनके ही हैं। वस्तुतः हम उनकी ही बात अपनी भाषा में व्यक्त कर रहे हैं- यदि हमें इस बात का जरा भी एहसास होता कि इतने सुंदर समाधान प्राप्त होंगे और पं. जी हम लोगों के बीच से इतनी जल्दी विदा हो जाएंगे तो हम उनकी वाणी को रिकार्ड करने की पूर्ण व्यवस्था कर लेते, किंतु आज हमारे बीच न तो वह प्रतिभा है और न इस सम्बंध में उनके शब्द ही हैं, फिर भी हम जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनका ही कथन है। यद्यपि

प्रस्तुतिकरण की कमी हमारी अपनी ही हो सकती है।

उनका कहना था कि बुद्धत्व की अवधारणा के संदर्भ में आपके द्वारा प्रस्तुत इन सभी असंगतियों का निराकरण चित्तसन्तति या चित्तधारा के रूप में किया जा सकता है। हम बुद्ध को व्यक्ति न मानें, अपितु परार्थ क्रियाकारित्व की एक प्रक्रिया मानें। बुद्ध एक नित्य-व्यक्तित्व (An Eternal Personality) नहीं अपितु, एक प्रक्रिया (A Process) है। बुद्ध के जो तीन या चार काय माने गए हैं, वे इस प्रक्रिया के उपाय या साधन हैं। धर्मकाय की नित्यता की जो बात कही गई है, वह स्थितिगत नित्यता नहीं अपितु क्रियागत नित्यता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह युगों-युगों तक चलता रहता है, यद्यपि उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन और नवीनता होती रहती है। ठीक उसी प्रकार बुद्ध या बोधिसत्व भी एक चित्तधारा है, जो उपायों के माध्यम से सदैव परार्थ में लगी रहती है।

बुद्ध के संदर्भ में जो त्रिकायों की अवधारणा है उसका अर्थ यह नहीं कि कोई नित्य आत्मसत्ता है, जो इन कार्यों को धारण करती है। वस्तुतः ये काय परार्थ के साधन या उपाय हैं। जिस चित्तधारा से बोधिचित्त का उत्पाद होता है, वह बोधिचित्त इन कार्यों के माध्यम से कार्य करता है। बुद्धत्व कोई व्यक्ति नहीं है, अपितु वह एक प्रक्रिया (A Process) है। धर्म की नित्यता मार्ग की नित्यता है। धर्म भी कोई वस्तु नहीं, अपितु प्रक्रिया है। जब हम धर्मकाय की नित्यता की बात करते हैं, तो वह व्यक्ति की नित्यता नहीं अपितु प्रक्रिया विशेष की नित्यता है। धर्मकाय नित्य है, इसका तात्पर्य यही है कि धर्म या परिनिर्वाण के उपाय नित्य हैं। बौद्धदर्शन में कार्यों की इस अवधारणा को भी हमें इसी उपाय प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि कोई नित्य आत्मा है, जो इन्हें धारण करती है। अपितु इन्हें परार्थक्रियाकारित्व के उपायों के रूप में समझना चाहिए और यह मानना चाहिए कि परार्थक्रियाकारित्व ही बुद्धत्व है।

बुद्ध के त्रिकायों के नित्य होने का अर्थ इतना ही है कि परार्थक्रियाकारित्व की प्रक्रिया सदैव-सदैव रहती है। वह चित्त जिसने लोकमंगल का संकल्प ले रखा है, जब तक वह संकल्प पूर्ण नहीं होता है, अपने इस संकल्प की क्रियान्विति के रूप में परार्थ-क्रिया करता रहता है। साथ ही वह संकल्प लेने वाला चित्त भी आपकी, हमारी या किसी की भी चित्तधारा की संतान हो सकता है, क्योंकि सभी चित्तधाराओं में बोधिचित्त के उत्पाद की सम्भावना है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि सभी जीव बुद्ध-बीज हैं। महायान में जो अनन्त बुद्धों की कल्पना है, वह कल्पना भी व्यक्ति की कल्पना नहीं,

अपितु प्रक्रिया की कल्पना है। क्योंकि यदि प्रक्रिया को सतत् चलना है तो हमें अनन्त बुद्धों की अवधारणा को स्वीकार करना होगा। यदि प्रत्येक चित्तधारा में बोधिचित्त के उत्पाद की सम्भावना है, तो ऐसी स्थिति में बोधिचित्त एक नहीं अनेक भी हो सकते हैं। वस्तुतः बुद्ध के सम्बंध में जो एकत्व और अनेकत्व के संदर्भ उपलब्ध हैं, वे भी कोई विरोधाभार, प्रस्तुत नहीं करते। प्रक्रिया के रूप में बुद्ध एक है, किंतु प्रक्रिया के घटकों के रूप में वे अनेक भी हैं। बुद्ध अनेक रूपों में प्रकट होते हैं इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोई व्यक्ति अनेक रूपों में प्रकट होता है, अपितु यह कि लोकमंगलकारी चित्तधारा, जो एक प्रक्रिया है, अनेक रूपों में प्रकट होती हुई अनेक रूपों में लोकमंगल करती है। बुद्ध के द्वारा अनेक सम्भोगकाय धारण करने का मतलब यह है कि बोधिचित्तधारा के अनेक चित्तक्षण अनेकानेक उपायों से लोकहित का साधन करते हैं। महायान परम्परा में बोधिचित्त के इस संकल्प का, कि जब तक समस्त प्राणी निर्वाण लाभ न कर लें या दुःख से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक मैं लोक-मंगल के लिए सतत् प्रयत्नशील रहूंगा, तात्पर्य यह है कि चित्त-संतति की धारा सतत् रूप से लोकमंगल में तत्पर रहने का निर्णय लेती है और तदनुसार अपनी चित्तसंतति के प्रवाह को बनाए रखती है। पुनः बुद्ध के संदर्भ में जो यह कहा जाता है कि बुद्ध न तो निर्वाण में स्थित हैं और न संसार में। इसका कारण यह है कि महायान परम्परा में बुद्ध के दो प्रमुख लक्षण माने गए हैं- प्रज्ञा और करुणा। प्रज्ञा के कारण बोधिचित्त संसार में प्रतिष्ठित नहीं होता। दूसरे शब्दों में प्रज्ञा उन्हें संसार में प्रतिष्ठित नहीं होने देती। (कोई भी प्रज्ञायुक्त पुरुष दुःखमय संसार में रहना नहीं चाहेगा), किंतु दूसरी ओर बुद्ध अपने करुणा-लक्षण के कारण निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं हो पाते। उनकी करुणा उन्हें निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं होने देती, क्योंकि कोई भी परमकारुणिक व्यक्तित्व दूसरों को दुःखों में लीन देखकर कैसे निर्वाण में प्रतिष्ठित रह सकता है।

अतः बोधिचित्त न तो वे निर्वाण प्राप्ति के कारण निष्क्रिय होते हैं और न लोकमंगल करते हुए भी संसार में आबद्ध होते हैं। यह बोधिचित्त भी व्यक्ति नहीं प्रक्रिया ही होता है जो निर्वाण को प्राप्त करके भी लोकमंगल के हेतु सतत् क्रियाशील बना रहता है और यही लोकमंगल के क्रियाशील बोधि प्राप्त चित्त सन्तति ही बुद्ध या बोधिसत्व है। अतः बुद्ध नित्य-व्यक्तित्व नहीं अपितु नित्य प्रक्रिया है और बुद्ध की नित्यता का अर्थ लोकमंगल की प्रक्रिया की नित्यता है।

संदर्भ -

1. द्रष्टव्य - तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार, सम्पादक- डॉ. सागरमल जैन, लेखक डॉ. रमेशचंद्र गुप्त, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, पृ. 169-172
2. द्रष्टव्य - बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 341
3. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ. 206-207
4. महायानसूत्रालंकार, पृ. 45-46

बौद्ध अनात्मवाद की सम्यक् समझ आवश्यक

भगवान बुद्ध भी आत्मा की शाश्वतवांदी और उच्छेदवादी-धारणाओं को नैतिक एवं साधनात्मक-जीवन की दृष्टि से अनुचित मानते हैं। संयुत्तनिकाय में बुद्ध ने आत्मा के सम्बंध में शाश्वतवादी और उच्छेदवादी-दोनों प्रकार की धारणाओं को मिथ्यादृष्टि कहा है। वे कहते हैं, 'रूप, वेदना, संज्ञा आदि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होने पर ऐसी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है- मैं मरकर नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविपरिणामधर्मा होऊंगा अथवा ऐसी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है कि सभी उच्छिन्न हो जाते हैं, लुप्त हो जाते हैं, मरने के बाद नहीं रहते'[11] बुद्ध की दृष्टि में यदि यह माना जाता है कि वही अपरिवर्तिष्णु आत्मा मरकर पुनर्जन्म लेती है, तो शाश्वतवाद हो जाता है और यदि यह माना जाए कि माता-पिता के संयोग से चार महाभूतों से आत्मा उत्पन्न होती है और इसलिए शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी उच्छिन्न, विनिष्ट और विलुप्त होती है, तो यह उच्छेदवाद है।[12] अचेलकाश्यप को बुद्ध ने सविस्तार यह स्पष्ट कर दिया था कि वे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद-इन दो अन्तों (एकान्तिक-मान्यताओं) को छोड़कर सत्य को मध्यम प्रकार से बताते हैं।[13] बुद्ध सदैव ही इस सम्बंध में सतर्क रहे हैं कि उनका कोई भी कथन ऐसा न हो, जिसका अर्थ शाश्वतवाद अथवा उच्छेदवाद के रूप में लगाया जा सके, इसलिए बुद्ध ने दुःख स्वकृत है या परकृत, जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है या जीव वही है, जो शरीर है, तथागत का मरने के बाद क्या होता है? आदि प्रश्नों का निश्चित उत्तर न देकर

उन्हें अव्याकृत बताया, क्योंकि इन प्रश्नों का हां या ना में एकान्तिक उत्तर देने पर शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में किसी एक विचार का अनुसरण होता है। बुद्ध आत्मा के सम्बंध में किसी भी एकान्तिक-दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं। बुद्ध स्पष्ट कहते हैं कि 'मैं हूं'- यह गलत विचार है, - 'मैं नहीं हूं'- यह गलत विचार है, 'मैं होऊंगा'- यह गलत विचार है और 'मैं नहीं होऊंगा - यह गलत विचार है। ये गलत विचार रोग हैं, फोड़े हैं कांटे हैं। बुद्ध ने इन्हें रोग, फोड़े और शल्य इसलिए कहा कि इस प्रकार के विचारों से मानव-मन को शांति नहीं मिल सकती। बुद्ध यह नहीं चाहते थे कि मनुष्य यह सोचे कि कहीं मैं मृत्यु के बाद विनष्ट तो नहीं हो जाऊंगा, क्योंकि ऐसा सोचेगा तो उसे अत्यंत वेदना होगी। स्वयं भगवान् बुद्ध के शब्दों में उसे आंतरिक अशनित्रास होगा। ऐसे होगा जैसे हृदय पर बिजली गिर पड़ी हो-हा! मैं उच्छिन्न हो जाऊंगा। हा! मैं नष्ट हो जाऊंगा। हाय! मैं नहीं रहूंगा! इस प्रकार, अज्ञ पुरुष शोक करता है, मूर्च्छित होता है।[14] उच्छेदवाद मानव को शांति प्रदान नहीं कर सकता। यह भी सम्भव है कि उच्छेदवाद को मानने पर दुराचारों की ओर प्रवृत्ति हो जाए, क्योंकि दुराचारों का प्रतिफल भावी जन्मों में मिलेगा-ऐसा विचार भी मानव-मन में नहीं रहेगा। इस प्रकार, एक ओर अनावश्यक भय मानव-मन को अक्रान्त करेंगे, दूसरी ओर अनैतिक-जीवन की ओर प्रवृत्ति होगी। बुद्ध यह भी नहीं चाहते थे कि मनुष्य यह सोचे कि मरकर मैं तो नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार होऊंगा और अनन्त वर्ष तक वैसे ही स्थित रहूंगा, क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसा विचार आसक्तिवर्द्धक है। आत्मा को शाश्वत मानने पर मनुष्य यह विचार करने लगता है कि मैं विगत जन्म में क्या था, कौन मेरा था, मैं भविष्य में क्या होऊंगा। बुद्ध की दृष्टि में ये विचार भी चित्त के चिराग के लिए नहीं होते, उल्टे इनसे आसक्ति बढ़ती है, राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। बुद्ध के शब्दों में ये विचार अमन सिकरणीयधर्म (अयोग्य विचार) हैं।[15] इस प्रकार, बुद्ध साधक को आत्मा के सम्बंध में उच्छेदवाद और शाश्वतवाद की मिथ्या धारणाओं से बचने का ही संदेश देते हैं, लेकिन आखिर बुद्ध का आत्मा के सम्बंध में क्या दृष्टिकोण है, इसे भी तो जानना होगा। यदि बुद्ध के आत्म-सिद्धांत के बारे में कुछ कहना है, तो उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद ही कह सकते हैं।

बुद्ध के अनात्मवाद के सम्बंध में दो गलत दृष्टिकोण

यद्यपि बुद्ध ने आत्मा के सम्बंध में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की एकान्तिक धारणाओं का विरोध किया, फिर भी उनके अनित्य, अनात्म, अव्याकृत तथा मौन को

सम्यक् रूप से समझे बिना विचारकों ने उन्हें किसी एक अति की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। एक ओर प्राचीन एवं मध्य युग के बौद्ध-दर्शन के सभी दार्शनिक आलोचकगण तथा सम्प्रतियुग के बौद्ध-दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् पं. राहुल सांस्कृत्यायन हैं, तो दूसरी ओर सम्प्रतियुग के रायजडेविड्स, कु. आई.बी.हार्नर, आनंद के.कुमार स्वामी और डॉ.राधाकृष्णन् जैसे मनीषी हैं।

प्रथम वर्ग बुद्ध के अनित्य, क्षणिक और अनात्म पर अधिक बल देकर उनका अर्थ उच्छेदवादी-दृष्टिकोण से करता है। यही कारण है कि बौद्ध-दर्शन के इन दार्शनिक-आलोचकों ने उस पर कृतप्रणाश, अकृतभोग, स्मृतिभंग और प्रमोक्षभंग के दोष लगाकर उसकी दार्शनिक-मान्यताओं को नैतिक-दर्शन के प्रतिकूल सिद्ध किया। यह इसलिए हुआ कि बौद्ध-दर्शन का आलोचक वर्ग केवल आलोचना के उद्देश्य से बुद्ध के मन्तव्यों का अर्थ लगाना चाहता था, ताकि बौद्ध-दर्शन को तर्क की दृष्टि से निर्बल, अव्यावहारिक तथा नैतिक-जीवन की व्याख्या करने में असफल सिद्ध कर सके। इन विचारकों में साम्प्रदायिक-अभिनिवेश एवं दोषदर्शनबुद्धि का प्राधान्य था। पं. राहुलजी भी बौद्ध-मन्तव्यों की व्याख्या में उच्छेदवादी-दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं, 'बुद्ध का अनित्यवाद भी दूसरा उत्पन्न होता है, दूसरा नष्ट होता है- के कहे के अनुसार किसी एक मौलिक-तत्त्व का बाहरी परिवर्तन मात्र नहीं, बल्कि एक का बिल्कुल नाश और दूसरे का बिल्कुल नया उत्पाद है। बुद्ध कार्य-कारण की निरंतर या अविच्छिन्न संतति को नहीं मानते। प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य-कारण-नियम को अविच्छिन्न नहीं, विच्छिन्न प्रवाह बतलाता है,'[16] लेकिन यह मानने पर बौद्ध-दर्शन को कृतप्रणाश और अकृतभोग के दोषों से बचाया नहीं जा सकता। दूसरे, यदि बुद्ध का मन्तव्य यही था कि दूसरा उत्पन्न होता, दूसरा विनष्ट होता है, तो फिर उन्हें उच्छेदवाद का समर्थन करने में कौन-सा दोष प्रतीत हुआ? उन्होंने आलोकाश्यप के सामने यह क्यों स्वीकार नहीं किया कि सुख-दुःख का भोग स्वीकृत नहीं है? फिर इस आधार पर बुद्ध के कर्म-सिद्धांत की व्याख्या कैसे होगी? हमारे दृष्टिकोण से बुद्ध के मन्तव्यों की ऐसी व्याख्या उनके नैतिक-आदर्शों के अनुकूल सिद्ध नहीं होगी। दूसरे, यह मानना कि प्रतीत्यसमुत्पाद कार्यकारण-नियम को विच्छिन्न प्रवाह बताता है, नितान्त असंगत है। प्रवाह सदैव ही विच्छिन्न नहीं, अविच्छिन्न होता है। यदि विच्छिन्न होगा, तो वह प्रवाह ही नहीं रह जाएगा। कार्यकारण के प्रत्यय सदैव ही अविच्छिन्न (अभिन्न) होते हैं। यदि वे विच्छिन्न हैं, एक-दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र हैं,

तो फिर उनमें कार्य-कारण (सन्तान-सन्तनिए) का सम्बंध कैसे होगा? कार्य-कारण या प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम वस्तुतः परिवर्तनशीलता का द्योतक हैं, न कि उच्छेद का। सम्भवतः, राहुलजी ऐसी व्याख्या इसलिए कर गए, ताकि वे बुद्ध के दर्शन को वर्त्तमान भौतिकवादी चौखटें में फिट कर सकें।

दूसरे वर्ग ने बुद्ध के मौन, अव्याकृत एवं पिटक-ग्रंथों के कुछ अन्य संदर्भों के आधार पर बुद्ध के आत्मा-सम्बंधी दृष्टिकोण में औपनिषदिक-आत्मा को खोजने का प्रयास किया है। रायज़्डेविड्स, कु.आई.बी.हार्नर, आनंद के.कुमारस्वामी एवं डॉ.राधाकृष्णन् का प्रयत्न इसी दिशा में रहा है। डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है, उपनिषदें आत्मा के एक आवरण के बाद दूसरे आवरण को दूर करती हुई अन्त में सब वस्तुओं की आधारभूमि तक पहुंचती हैं। इस प्रक्रिया के अंत में वे सार्वभौम व्यापक आत्मा की उपलब्धि करती हैं, जो कि सब सान्त वस्तुओं में से एक भी नहीं है, यद्यपि उन सबकी आधार-भूमि है। बुद्ध का भी वस्तुतः यही मत है, यद्यपि निश्चित रूप से वे इसको कहते नहीं है।[17] कु.हार्नर और कुमारस्वामी भी लिखते हैं कि बुद्ध के समस्त सिद्धांतवाक्यों में यह कहीं भी नहीं लिखा मिलता कि आत्मा नहीं है। यह आत्मा व्यावहारिक-आत्मा (जीवात्मा) से, जिसका पुनः - पुनः क्षय होता रहता है, भिन्न है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष-दोनों प्रकार से आत्मा की प्रतिष्ठा ही की गई है। बार-बार दुहराए गए कथन कि यह मेरी आत्मा नहीं है, आत्मा की स्थापना के सबल प्रमाण हैं। प्रत्येक बौद्ध से यह आशा की जाती है कि वह उस आत्मा का, जो उसकी आत्मा की अपेक्षा प्रधान है, आदर करेगा। यह प्रधान आत्मा ही आत्मा का स्वामी है, या आत्मा का चरम लक्ष्य है। बुद्ध अपने इस कथन में कि मैंने आत्मा की शरण ले ली है, अपनी शरण की ओर संकेत नहीं करते, वरन् वे इसी 'आत्मा' की ओर संकेत करते हैं। इसी 'आत्मा' का वर्णन उनके इन कथनों में भी मिलता है- आत्मा की खोज करो (अत्तानं गवेसेय्याथ), आत्मा को अपना आश्रय और दीपक बनाओ (अत्तसरण अत्तदीप)। यहां पर महान् आत्मा तथा लघु आत्मा में भेद स्पष्ट हो जाता है, अतः यह निश्चित है कि बुद्ध ने न तो ईश्वर की, न आत्मा की और न शाश्वत की उपेक्षा की है,[18] लेकिन बुद्ध-मन्तव्यों में औपनिषदिक-आत्मा को खोजने का प्रयास भी अनधिकार चेष्टा ही कहा जाएगा। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में 'हमारा विनम्र मन्तव्य है कि (इस उपर्युक्त आख्यान के) अत्तानं गवेसेय्याथ (आत्मा को ढूंढो) में औपनिषद्- 'आत्मा' के उपदेश को देखना

बेकार है, चाहे भले ही डॉ. राधाकृष्णन्, कुमारस्वामी और आई.बी.हार्नर ने इस प्रकार का अनधिकारपूर्ण प्रत्यन किया हो।'[19] इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन के आत्म-सिद्धांत को समझने में दोनों ही दृष्टिकोण उचित नहीं हैं। वस्तुतः, इन भ्रान्तियों के मूल में जहां आग्रह-दृष्टि है, वहीं बौद्ध-साहित्य में प्रयुक्त अनात्म, अनित्य, अव्याकृत, बुद्ध के मौन तथा आत्मा शब्द की सम्यक् व्याख्या का अभाव भी है, अतः आवश्यक है कि इनके सम्यक् अर्थ को समझने का थोड़ा प्रयास किया जाए।

भ्रान्त धारणाओं का कारण

अनात्म (अनत्त) का अर्थ

बौद्ध-दर्शन में 'अत्ता' शब्द का अर्थ है- मेरा, अपना। बुद्ध जब अनात्म का उपदेश देते हैं, तो उनका तात्पर्य यह है कि इस आनुभविक-जगत् में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसे मेरा या अपना कहा जा सके, क्योंकि सभी पदार्थ, सभी रूप, सभी वेदना, सभी संस्कार और सभी विज्ञान (चैत्तसिक-अनुभूतियां) हमारी इच्छाओं के अनुरूप नहीं हैं, अनित्य हैं, दुःखरूप हैं। उनके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वे अपने हैं, अतः वे अनात्म (अपने नहीं) हैं। बुद्ध के द्वारा दिया गया वह अनात्म का उपदेश हमें कुन्दकुन्द के उन वचनों की याद दिलाता है, जिसमें उन्होंने ज्ञाता (आत्मा) का ज्ञान के समस्त विषयों से विभेद बताया है।[20] बौद्ध-आगमों में ये ही मूलभूत विचार अनात्मवाद के उपदेश के रूप में पाए जाते हैं। इनका यह फलितार्थ नहीं मिलता है कि आत्मा नहीं है। श्री भरतसिंह उपाध्याय का मन्तव्य है कि बुद्ध का एक भी वचन सम्पूर्ण पालि-त्रिपिटक में इस निर्विशेष अर्थ का उद्धृत नहीं किया जा सकता कि आत्मा नहीं है। जहां उन्होंने 'अनात्मा' कहा, वहां पंच स्कन्धों की अपेक्षा से ही कहा है, बारह आयतनों और अठारह धातुओं के क्षेत्र को लेकर ही कहा है।[21] इस प्रकार, बुद्ध-वचनों में अनात्म का अर्थ 'अपना नहीं', इतना ही है। वह सापेक्ष कथन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'आत्मा नहीं है'। बुद्ध ने आत्मा को न शाश्वत कहा, न अशाश्वत कहा, न यह कहा कि आत्मा है, न यह कहा कि आत्मा नहीं है, केवल रूपादि पंचस्कंधों का विश्लेषण कर यह बता दिया कि इनमें कहीं आत्मा नहीं है। बौद्ध-दर्शन के अनात्मवाद को उसके आचारदर्शन के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। बुद्ध के आचारदर्शन का सारा बल तृष्णा के प्रहाण पर है। तृष्णा न केवल स्थूल पदार्थों पर होती है, वरन् सूक्ष्म आध्यात्मिक-पदार्थों पर भी हो सकती है। वह अस्तित्व की भी हो सकती है (भवतृष्णा) और अनस्तित्व की भी

(विभवतृष्णा), अतः उस तृष्णा के सभी निवेशनों (आश्रय-स्थानों) को उच्छिन्न करने के लिए बुद्ध ने अनात्म का उपदेश दिया। वस्तुतः, अनात्मवाद विनम्रता की आत्यन्तिक कोटि, अनासक्ति की उच्चतम अवस्था और आत्मसंयम की एकमात्र कसौटी है। इस अनात्म का उपदेश उन्होंने तृष्णा के प्रहाण एवं ममत्व के विसर्जन के लिए दिया। यदि उन्हें अनात्म का अर्थ 'आत्मा नहीं' अभिप्रेत होता, तो वे उच्छेदवाद का विरोध ही क्यों करते? बुद्ध ने उच्छेदवाद को अस्वीकार किया है, अतः बौद्ध-मन्तव्य में अनात्म का अर्थ 'आत्मा नहीं है' करना अनुचित है।

आत्मा (अत्ता) का अर्थ

पिटक-साहित्य में जहां अनात्म (अनत्त) का प्रयोग हुआ है, वहीं उसमें आत्मा (अत्ता) शब्द का भी प्रयोग हुआ है। बुद्ध ने यह भी उपदेश दिया है कि आत्मा की शरण स्वीकार करो (अत्तसरण), आत्मा को ही अपना प्रकाश बनाओ (अत्तदीप), आत्मा की खोज करो (अत्तानं गवेसेय्याथ)। इसी आधार पर आनंद के.कुमार स्वामी, कु.हार्नर और डॉ.राधाकृष्णन् ने बौद्ध-दर्शन में औपनिषदिक आत्मा को खोजने का प्रयास किया है, लेकिन यह प्रयत्न सम्यक् नहीं है। श्री उपाध्याय के शब्दों में यह अनधिकारपूर्ण प्रयत्न ही है। यहां बुद्ध किसी पारमार्थिक अविनाशी एवं अक्षय आत्मा की शरण ग्रहण करने या खोज करने की बात नहीं कहते हैं। सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों के प्रकाश में यहां आत्मा शब्द का अर्थ स्वयं (Self) या परिवर्तनशील स्व है। जिस प्रकार अनात्म का अर्थ 'अपना नहीं' है, उसी प्रकार आत्म का अर्थ 'अपना' या 'स्वयं' है।[22]

अनित्य का अर्थ

अनित्य का अर्थ विनाशशील माना जाता है, लेकिन यदि अनित्य का अर्थ विनाशी करेंगे, तो हम फिर उच्छेदवाद की ओर होंगे। वस्तुतः, अनित्य का अर्थ है-परिवर्तनशील। परिवर्तन और विनाश अलग-अलग हैं। विनाश में अभाव हो जाता है, परिवर्तन में वह पुनः एक नए रूप में उपस्थित हो जाता है, जैसे बीज पौधे के रूप में परिवर्तित हो जाता है, विनष्ट नहीं होता। बुद्ध सत्व की अनित्यता या क्षणिकवाद का उपदेश देते हैं, तो उनका आशय यह नहीं है कि वह विनष्ट हो जाने वाला है, वरन् यही है कि वह परिवर्तनशील है, वह एक क्षण भी बिना परिवर्तन के न हीं रहता। बौद्ध-दर्शन में अनित्य और क्षणिक का मतलब है-सतत् परिवर्तनशील। जैन-दर्शन जिसे परिणामी कहता है, उसे ही बौद्ध-दर्शन में अनित्य या क्षणिक कहा जाता है।

अव्याकृत का सम्यक् अर्थ

बुद्ध ने जीव और शरीर की भिन्नता, तथागत की परिनिर्वाण के पश्चात् की स्थिति आदि प्रश्नों को अव्याकृत-कोटि में रखा है। बुद्ध का अव्याकृत कहने का आशय यही है कि अस्ति और नास्ति की कोटियों से सीमित व्यावहारिक-भाषा उसे बता पाने में असमर्थ है। हां और ना में इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। जैन-दर्शन में जो अर्थ 'अवक्तव्य' का है, वही अर्थ बौद्ध-दर्शन में 'अव्याकृत' का है।

बुद्ध मौन क्यों रहे?

बुद्ध के मौन रहने का अर्थ यह है कि आत्मा-सम्बंधी प्रश्नों का उत्तर हां और ना में नहीं दिया जा सकता, अतः जहां किसी एकान्तिक-मान्यता में जाने की सम्भावना हो, वहां मौन रहना ही अधिक उपयुक्त है। बुद्ध ने आनंद के समक्ष अपने मौन का कारण स्पष्ट कर दिया था कि वे यदि 'हां' कहते, तो शाश्वतवाद हो जाता है और 'ना' कहते, तो उच्छेदवाद हो जाता।

जैन और बौद्ध-दृष्टिकोण की तुलना

महावीर तथा बुद्ध-दोनों ही आत्मा के सम्बंध में उच्छेदवादी एवं शाश्वतवादी एकान्तिक-दृष्टिकोणों के विरोधी हैं। दोनों में अंतर केवल यह है कि जहां महावीर विधेयात्मक-भाषा में आत्मा को नित्यानित्य कहते हैं, वहीं बुद्ध निषेधात्मक-भाषा में उसे अनुच्छेदाशाश्वत कहते हैं। बुद्ध जहां अनित्य-आत्मवाद और नित्य-आत्मवाद के दोषों को दिखाकर दोनों दृष्टिकोणों को अस्वीकार कर देते हैं, वहां महावीर उन एकान्तिक-मान्यताओं के अपेक्षामूलक समन्वय के आधार पर उनके दोषों का निराकरण करने का प्रयत्न करते हैं।[23]

बुद्ध ने आत्मा के परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया और इसी आधार पर उसे अनित्य भी कहा और यह भी बताया कि इस परिवर्तनशील चेतना से स्वतंत्र कोई आत्मा नहीं है या क्रिया से भिन्न कारक की सत्ता नहीं है। बुद्ध अविच्छिन्न, परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह के रूप में आत्मा को स्वीकार करते हैं, लेकिन बुद्ध का यह मन्तव्य जैन-विचारणा से उतना अधिक दूर नहीं है, जितना कि समझा जाता है। जैन-विचारणा द्रव्य-आत्मा की शाश्वतता पर बल देकर यह समझती है कि उसका मन्तव्य बौद्ध-विचारणा का विरोधी है, लेकिन जैन-विचारणा में द्रव्य का स्वरूप क्या है? यही न कि जो गुण और पर्याय से युक्त हैब वह द्रव्य है।[24]

जैन-विचारणा में द्रव्य पर्याय से अभिन्न रही है और यदि इसी अभिन्नता के आधार पर यह कहा जाए कि क्रिया (पर्याय) से भिन्न कर्त्ता (द्रव्य) नहीं है, तो उसमें कहां विरोध रह जाता है? द्रव्य और पर्याय, ये आत्मा के सम्बंध में दो दृष्टिकोण हैं, दो विविक्ति सत्ताएं नहीं हैं। उनकी इस अभिन्नता के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन का आत्मा भी सदैव ही परिवर्तनशील है। फिर, अविच्छिन्न चेतना-प्रवाह (परिवर्तनों की परम्परा) की दृष्टि से आत्मा को शाश्वत मानने में बौद्ध-दर्शन को भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि उसके अनुसार भी प्रत्येक चेतन-धारा का प्रवाह बना रहता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध के मन्तव्य में भी चेतना-प्रवाह या चेतना-परम्परा की दृष्टि से आत्मा नित्य (अनुच्छेद) है और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से आत्मा अनित्य (अशाश्वत) है। जैन-परम्परा में द्रव्यार्थिक-नय का आगमिक-नाम अव्युच्छिति-नय और पर्यायार्थिक-नय का व्युच्छिति-नय भी है। हमारी सम्मति में अव्युच्छिति-नय का तात्पर्य है- प्रवाह या परम्परा की अपेक्षा से और व्युच्छिति-नय का तात्पर्य है- अवस्था-विशेष की अपेक्षा से। यदि इस आधार पर कहा जाए कि जैन-दर्शन चेतन-धारा की अपेक्षा से (अव्युच्छिति-नय से) आत्मा को नित्य और चेतन अवस्था (व्युच्छिति-नय) की दृष्टि से आत्मा को अनित्य मानता है, तो वह अपने को बौद्ध-दर्शन के निकट ही खड़ा पाता है।

गीता का दृष्टिकोण

आत्मा की नित्यता के प्रश्न पर गीता का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। गीता में आत्मा को स्पष्टरूप से नित्य कहा गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जीवात्मा के ये सभी शरीर नाशवान् कहे गए हैं , लेकिन यह जीवात्मा तो अविनाशी है। न तो यह कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। वह आत्मा अच्छेद्य, आदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापक, अचल और सनातन है। इस आत्मा को जो मारनेवाला समझता है और जो दूसरा (कोई) इस आत्मा को देह के नाश से मैं नष्ट हो गया- ऐसे नष्ट हुआ मानता है, अर्थात् हननक्रिया का कर्म मानता है, वे दोनों ही अहंप्रत्यय के विषयभूत आत्मा को अविवेक के कारण नहीं जानते। यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और मरता भी नहीं।[25] इस प्रकार, गीता आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करती है।

जैन, बौद्ध और गीता के दृष्टिकोणों की तुलना

जैन-दर्शन के समान गीता भी तात्त्विक-आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन

करती है। इतना ही नहीं, गीता में जीव की विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक-अवस्थाओं की अनित्यता का संकेत भी उपलब्ध है।[26] इस आधार पर गीता का मन्तव्य भी जैन-दृष्टिकोण से अधिक दूर नहीं है, यद्यपि गीता आत्मा के अविनाशी स्वरूप पर ही अधिक जोर देती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जहां एक ओर बौद्ध-दर्शन आत्मा के अनित्य या परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल देता है, वहां दूसरी ओर, गीता आत्मा के नित्य या शाश्वत पक्ष पर अधिक बल देती है, जबकि जैन-दर्शन दोनों पक्षों पर समान बल देते हुए उनमें सुंदर समन्वय प्रस्तुत करता है।

बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म भारत की श्रमण परम्परा का धर्म है। सामान्यतया श्रमण परम्परा को निवृत्तिमार्गी माना जाता है और इस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि निवर्तक धारा का समर्थन और संन्यासमार्गी परम्परा का होने के कारण बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना का अभाव है। यद्यपि बौद्धधर्म संसार की दुःखमयता का चित्रण करता है और यह मानता है कि सांसारिक तृष्णाओं और वासनाओं के त्याग से ही जीवन के परमलक्ष्य निर्वाण की उपलब्धि सम्भव है। यह भी सत्य है कि श्रमणधारा के अन्य धर्मों की तरह प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भी श्रामण्य या भिक्षु-जीवन पर अधिक बल दिया गया। उसमें गृहस्थ धर्म और गृहस्थ जीवनशैली को वरीयता प्रदान की गई, किंतु इस आधार पर यह मान लेना कि बौद्ध धर्म सामाजिक चेतना अर्थात् समाज कल्याण की भावना से परांगमुख रहा है, भ्रांतिपूर्ण ही होगा। फिर भी यहां हमें यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमण परम्परा में जो सामाजिक संदर्भ उपस्थित है, वे अवश्य ही प्रवर्तक धर्मों की अपेक्षा थोड़े भिन्न प्रकार के हैं।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिंतन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। जहां वैदिक युग में 'संगच्छध्वं, संवदध्वं' के उद्घोष के द्वारा सामाजिक चेता को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, वहीं औपनिषदिक युग में इस

सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया। समाज के सदस्यों के बीच अभेद निष्ठा जागृत करके एकात्मकता की अनुभूति कराने का प्रयत्न किया गया। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता है -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। सूत्र - 6

अर्थात् जो सभी प्राणियों को अपने से और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह इस एकात्मकता की अनुभूति के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता है। औपनिषदिक युग में यह एकात्मकता की अनुभूति सामाजिक चेतना का आधार बनी। किंतु सामान्यरूप से श्रमण परम्परा में जो सामाजिक चेतना के संदर्भ उपस्थित हैं वे वस्तुतः सामाजिक सम्बंधों की शुद्धि के लिए हैं। बौद्धधर्म में मुख्यतः सामाजिक जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। बौद्धधर्म की पंचशील की अवधारणा में वस्तुतः उन दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया गया है जो हमारे सामाजिक सम्बंधों को विकृत करती थीं। पंचशीलों के माध्यम से उसमें जो हिंसा, असत्यभाषण, चौर्यकर्म, व्यभिचार और मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहने की बात कही गई है उसका मुख्य आधार हमारी सामाजिक चेतना ही है। हिंसा का अर्थ है दूसरे प्राणियों को कष्ट देना, उनके हितों की उपेक्षा करना, इसी प्रकार असत्य भाषण का तात्पर्य दूसरों को गलत जानकारी देना या उनके साथ कपटपूर्ण व्यवहार करना। चोरी का अर्थ है, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण या शोषण करना। इसी प्रकार व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बंध स्थापित करना और सदाचार के मूल्यों की अवहेलना कर सामाजिक सम्बंधों को विषाक्त एवं अस्थिर बनाना। इसी प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन भी सामाजिक चेतना और दायित्वबोध की उपेक्षा का ही कारण कहा जा सकता है। यदि हम गहराई से विचार करें तो सामाजिक जीवन के अभाव में इन पंचशीलों का कोई अर्थ और संदर्भ ही नहीं रह जाता। पंचशील के रूप में जो मर्यादाएं बौद्ध धर्म के द्वारा प्रस्तुत कीगई हैं, उनका मुख्य सम्बंध हमारे सामाजिक सम्बंधों की शुद्धि से ही है। बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक संदर्भ हैं, जो व्यक्ति को उसके सामाजिक सम्बंधों और दायित्वों का बोध कराते हैं, जिनकी चर्चा हम इसी आलेख के अंत में कर रहे हैं।

संघ की सर्वोपरिता

श्रमण परम्परा में और विशेष रूप से बौद्धधर्म में धर्मसंघ की स्थापना का जो

प्रयत्न हुआ वह वस्तुतः इस बात का सूचक है कि बौद्ध धर्म में उसके प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक चेतना उपस्थित थी। सामूहिक-साधना या संघीय जीवनशैली बौद्ध धर्म की विशिष्ट देन है। बुद्ध ने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक संघीय-जीवन और संघ की महत्ता को स्वीकार किया। अपने परिनिर्वाण के अवसर पर भी उन्होंने अपने स्थान पर किसी भिक्षु को स्थापित न करके यही कहा कि मेरे पश्चात् संघ ही भिक्षु-भिक्षुणी वर्ग की अनुशास्ता होगा। जो लोग बौद्धधर्म को श्रमण या संन्यासमार्गीय परम्परा का धर्म होने के कारण यह कहते हैं कि उसमें सामाजिक चेतना का अभाव है वे वस्तुतः बौद्धधर्म की इस सामाजिक प्रकृति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। बौद्धधर्म में सदैव ही संघ की महत्ता और गरिमा का गुण-गान किया गया और साधनामय जीवन में सहवर्गीय भिक्षु और प्राणियों की सेवा को साधना का उच्च आदर्श माना गया। समस्त आचार नियमों का मूल स्रोत बुद्ध के पश्चात् संघ ही रहा है। संघ की दूसरे शब्दों में समाज की सर्वोपरिता को बौद्धधर्म ने सदैव ही स्वीकार किया है। त्रिशरणों में 'संघशरण' का विधान इस बात का प्रमाण है कि बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना को सदैव ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

राग का प्रहाण और सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म राग के प्रहाण पर बल देता है और इसीलिए वह श्रामण्य (संन्यास) और निर्वाण की बात कहता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि राग का प्रहाण ही ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति की सामाजिक चेतना को अवरुद्ध करता है, किंतु यह मान्यता भ्रांत ही है। राग या ममत्व से ऊपर उठने का अर्थ सामाजिकता की चेतना से विलग होना नहीं है। यह सत्य है कि राग के प्रहाण के लिए व्यक्ति श्रामण्य को स्वीकार करता है और अपने पारिवारिक सम्बंधों को भी तोड़ लेता है, किंतु यह पारिवारिक जीवन से विरक्त होना सामाजिक जीवन से विमुख होना नहीं है, अपितु यह हमारी सामाजिक चेतना और सामाजिक सम्बंधों को व्यापक बनाने का ही एक प्रयत्न है। वास्तविकता तो यह है कि रागात्मकता की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बंध बन ही नहीं पाते। राग हमें व्यापक बनाने की अपेक्षा सीमित ही करता है। वह अपने और पराये का घेरा खड़ा करता है। यदि हम ईमानदारीपूर्वक विश्लेषण करें तो हम पाएंगे कि सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बंधों की विषमता के मूल में कहीं न कहीं व्यक्ति की रागात्मकता ही कार्य करती है। मैं और मेरा ऐसे प्रत्यय हैं जो हमें चाहे कुछ लोगों के साथ जोड़ते हों, लेकिन वे हमें बहुजन समाज से तो अलग ही करते हैं। ममत्व की उपस्थिति हमारी सामाजिक चेतना

की संकीर्णता की ही सूचक है। रागभावना जोड़ने का काम कम और तोड़ने का काम अधिक करती है। ममत्व की उपस्थिति में समत्व सम्भव नहीं है और समता के अभाव में सामाजिकता नहीं होती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बंध राग और द्वेष के आधार पर बनते हैं तो वे विषमता और संघर्ष को जन्म देते हैं। बोधिचर्यावतार में आचार्य शांतिदेव लिखते हैं-

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि च ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ।।
आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ।।

अर्थात् संसार के सभी दुःख और भय तथा तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण ही होते हैं , जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक उन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याक किए बिना तज्जन्य दाह से बचना सम्भव नहीं है, वैसे ही ममत्व का परित्याग किए बिना दुःख से बचना सम्भव नहीं है। पर में आत्मबुद्धि या राग भाव के कारण ही 'मैं' और 'मेरे' पन का भाव उत्पन्न होता है। यही ममत्व भाव है। इसी आधार पर व्यक्ति मेरा परिवार, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ऐसे क्षुद्र घेरे बनाता है। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज यदि मानव जाति के सुमधुर सम्बंधों में कोई भी तत्त्व सबसे अधिक बाधक है तो वह ममत्व या रागात्मकता का भाव ही है। ममत्व या रागात्मकता व्यक्ति को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देती। बौद्ध दर्शन इसीलिए राग के प्रहाणपर बल देकर सामाजिक चेतना को एक यथार्थ दृष्टि प्रदान करता है। क्योंकि राग सदैव ही कुछ प र होता है और जो कुछ पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता है। राग के कारण हमारे स्व की सीमा संकुचित होती है। यह अपने और पराये के बीच दीवार खड़ी करता है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हितों का हनन करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि उन्हीं के प्रति किए जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। अतः रागात्मक सम्बंधों के आधार पर सामाजिकता की सच्ची चेतना जागृत नहीं होती।

यद्यपि रागात्मकता या ममत्व के घेरे को पूरी तरह तोड़ पाना सामान्य व्यक्ति के

लिए सम्भव नहीं है, किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किए बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। परिवार की सेवा के लिए हमें अपने वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों को, समाज की सेवा के लिए पारिवारिक स्वार्थों को और राष्ट्र की सेवा के लिए जाति, धर्म और वर्ग के क्षुद्र स्वार्थों को छोड़ना होगा। इन क्षुद्र स्वार्थों का एक सीमा तक विसर्जन किए बिना सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं है। ममत्व एवं स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी सिद्ध होती है। उसके होते हुए एक व्यापक सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं होता है।

पुनः समाज त्याग और समर्पण के मूल्यों के आधार पर खड़ा होता है। यदि मुझे पत्नी, बच्चों एवं परिवार की सेवा करना है तो कहीं न कहीं अपने वैयक्तिक स्वार्थों को त्यागना ही होगा। इसी प्रकार राष्ट्र की सेवा के लिए पारिवारिक और जातीय स्वार्थों को छोड़ना ही होगा। यही नहीं, यदि हम समग्र मानव जाति या प्राणिमात्र का कल्याण चाहते हैं तो राष्ट्रीयता के क्षुद्र घेरे से भी ऊपर उठना होगा। इस विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध परम्परा में जो राग और तृष्णा के प्रहाण की बात की गई है वह सामाजिक चेतना के विकास में बाधक नहीं अपितु साधक है। हमारे समाजिक सम्बंधों का आधार राग नहीं, अपितु विवेक का तत्त्व होना चाहिए। कर्त्तव्यबोध की भावना ही एक ऐसा तत्त्व है जो हमारी सामाजिक चेतना का आधार बन सकता है। राग की भाषा मेरेपन की भाषा है, अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्त्तव्यबोध की भाषा है। जहां केवल अधिकारों की बात होती है वहां केवल विकृत सामाजिकता पनपती है। राग के आधार पर जो भी सामाजिक चेतना निर्मित होगी वह अनिवार्य रूप से वर्ग भेद और वर्ण भेद को जन्म देगी। बौद्धधर्म में जिस सामाजिक चेतना के निर्माण की बात कही गई है वह सामाजिक चेतना प्रज्ञा और सार्वभौम करुणा के आधार पर फलित होती है। उसमें मेरे और तेरे या अपने या पराये की चेतना ही समाप्त हो जाती है। परम प्रज्ञा से जो करुणा निःसृत होती है, वह सीमित नहीं होती है, वह अनन्त होती है, वह किसी एक पर नहीं, अपितु सभी पर होती है।

संन्यास और समाज-सेवा

सामान्यतया संन्यास की अवधारणा को भी सामाजिकता का विरोधी माना जाता है। बौद्धधर्म निश्चय ही एक संन्यासमार्गी परम्परा का धर्म है। यह भी सही है कि

संन्यासी घर परिवार और समाज से अपना सम्बंध तोड़ लेता है तथा धन, सम्पत्ति का भी परित्याग कर देता है। मात्र यही नहीं, एक सच्चा संन्यासी तो लोकेषणा का भी त्याग कर देता है, किंतु धन, सम्पदा, परिवार और लोकेषणा का त्याग, समाज का परित्याग नहीं है, वस्तुतः यह त्याग स्वार्थवृत्ति का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है। संन्यासी का यह संकल्प उसे समाज विमुख नहीं बनाता है अपितु समाज कल्याण की उच्चतर भूमिका में अधिष्ठित करता है। क्योंकि सच्चा समाज कल्याण निःस्वार्थता और विराग की भूमि पर अधिष्ठित होकर ही किया जा सकता है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए एकत्रित व्यक्तियों का समूह समाज नहीं होता और ऐसे स्वार्थी और वासना-लोलुप व्यक्तियां तथाकथित सेवा का कार्य समाज-सेवा की कोटि में नहीं आता है। समाज उन लोगों का समूह होता है जो अपने वैयक्तिक और पारिवारिक हितों का परित्याग करते हैं। निःस्वार्थभाव से लोकमंगल के लिए उठ खड़े होते हैं। चारों और लुटेरों का भी समूह होता है, किंतु वह समाज नहीं कहलाता। समाज की भावना ही वहीं पनपती है, जहां त्याग और स्वहित के विसर्जन का संकल्प होता है। भगवान बुद्ध ने जो भिक्षु संघ की व्यवस्था दी, वह सामाजिक चेतना की विरोधी नहीं है। बौद्ध भिक्षु लोकमंगल और सामाजिक दायित्वों से विमुख होकर भिक्षु नहीं बनता, अपितु वह लोककल्याण के लिए भिक्षु जीवन अंगीकार करता है। बुद्ध का यह आदेश- 'चरत्थभिक्खवे चारिक्कं' बाहुजनहिताय बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय सुखाय देवमुनस्सानं' इस बात का प्रमाण है कि उनका भिक्षु संघ लोकमंगल के लिए ही है। संन्यास की भूमिका में निश्चित ही स्वार्थ और ममत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी संन्यास लोक कल्याण और सामाजिक दायित्वों के पलायन नहीं है, अपितु बहुजन समाज के प्रति समर्पण है। सच्चा श्रमण उस भूमिका पर खड़ा होता है जहां वह अपने को समष्टि में और समष्टि को अपने में देखता है। वस्तुतः निर्ममत्व और निःस्वार्थभाव से तथा अपने और पराये के संकीर्ण घेरे से ऊपर उठकर लोककल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहना, श्रमण जीवन की सच्ची भूमिका है। सच्चा श्रमण वह व्यक्ति है जो लोकमंगल के लिए अपने को और अपने शरीर को भी समर्पित कर देता है।

संन्यास का तात्पर्य है व्यक्ति अपने और पराये के घेरे से ऊपर उठे और प्राणिमात्र के प्रति उसका हृदय करुणाशील बने।

आचार्य शांतिदेव बोधिचर्यावतार में लिखते हैं-

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादयः ।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्नदेहिनः ।। बोधि. 8/114

जिस प्रकार हाथ आदि स्व शरीर के अवयव होने से प्रिय हो जाते हैं तो फिर जगत् के अवयव होने से सभी प्राणी प्रिय क्यों नहीं होंगे?

वस्तुतः सच्चा श्रमण और सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति होता है जिसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। श्रामण्य की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की, अपितु वह एक ऐसी भूमिका है जहां मात्र कर्त्तव्य भाव से लोक कल्याण के भाव से जीवन के व्यवहार फलित होते हैं। समाज में नैतिक चेतना को जागृत करना तथा समाज में आनेवाली दुष्प्रवृत्तियों से व्यक्तियों एवं समाज को बचाकर लोक मंगल के लिए प्रेरित करना ही संन्यासी का सर्वोपरि कर्त्तव्य माना गया है।

निर्वाण का प्रत्यय और समाज

यद्यपि बौद्ध दर्शन में निर्वाण को साधना का सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, किंतु निर्वाण का यह प्रत्यय भी सामाजिक चेतना से विमुख नहीं कहा जा सकता है। निर्वाण का अर्थ है तृष्णा और आसक्ति का प्रहाण। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह मानसिक तनावों से मुक्ति का प्रयास ही है। वस्तुतः निर्वाण प्राप्त चित्त एक ऐसा शांत चित्त होता है, जो तनावों एवं विक्षोभों से मुक्त रहता है। यदि हम निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के संदर्भ में विचार करें तो हमें इन्हीं मानसिक विक्षोभों के निराकरण के संदर्भ में ही उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः इस सम्बंध में कोई भी दो मत नहीं होगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि मनोवृत्तियां हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक घातक है। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का अर्थ है तो मुक्ति का सम्बंध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ जाता है। निर्वाण मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है, अपितु वह हमारे जीवन से सम्बंधित है। भारतीय चिंतकों ने मोक्ष को पुरुषार्थ माना है। उसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन से प्राप्तव्य है। जो लोग निर्वाण को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे निर्वाण के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

इस जीवनमुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता को हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जीवनमुक्त एक ऐसा व्यक्ति है जो सदैव लोक-कल्याणकारी होता है। बौद्ध दर्शन में बुद्ध, अर्हत् एवं बोधिसत्व की जो अवधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर

पहुंच सकते हैं कि निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक मंगल और मानव-कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है। जन-जन को दुःखों से मुक्त करना ही वास्तविक मुक्ति है। बौद्ध दार्शनिकों ने वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्व दिया है। बौद्ध-दर्शन में बोधिसत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से यह बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिए अपने बंधन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता, वह कहता है-

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति ।
उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनोः ।। बोधि. 8/105
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं, मोक्षेणारसिकेन किम् ।। बोधि. 8/108

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःखों को दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनंद प्राप्त होता है, वह क्या कम है, फिर नीरस निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्वाण की अवधारणा भी सामाजिकता की विरोधी नहीं है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अर्थ है आत्मभाव का पूर्णतया विगलन। वस्तुतः मैं, अहं और मेरेपन के भाव से मुक्त हो जाना ही निर्वाण प्राप्त करना है। इस दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है, अपने आपको मिटाकर समष्टि या समाज में लीन कर लेना। बौद्ध दर्शन में वही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है जो अपने व्यक्तित्व को समष्टि में लीन कर दे। आचार्य शांतिदेव 'बोधिचर्यावतार' में लिखते हैं-

सर्वत्यागश्च निर्वाणं, निर्वाणार्थिं च मे मनः ।
त्यक्तवं चेन्मया सर्वं वरं सत्वेषु दीयताम् ।। बोधि. 3/11

अर्थात् यदि सर्व का त्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाण को चाहता है तो सब कुछ जो त्याग करना है, उसे अन्य प्राणियों को क्यों न दे दिया जाए। इस प्रकार शांतिदेव की दृष्टि में व्यक्ति का पूर्णतः समष्टि में लीन हो जाना अर्थात् अपने को प्राणिमात्र की सेवा में समर्पित कर देना ही साधना का एकमात्र आदर्श है। अतः निर्वाण का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, यह धारणा भ्रांत है।

अंत में हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध दर्शन में, चाहे श्रामण्य या संन्यास का प्रत्यय हो, चाहे निर्वाण का, वह किसी भी अर्थ में सामाजिकता का विरोधी नहीं है। बौद्ध आचार्यों की दृष्टि और विशेषकर महायान आचार्यों की दृष्टि सदैव ही सामाजिक चेतना से परिपूर्ण रही है और उन्होंने सदैव ही लोक मंगलकारी दृष्टि को जीवन का आदर्श माना है। आचार्य शांतिदेव बोधिचर्यावतार (8/125-129) में बौद्ध धर्म और दर्शन में सामाजिक चेतना कितनी उदात्त है, इसका स्पष्ट चित्रण करते हैं। हम यहां उनके वचनों को यथावत प्रस्तुत कर रहे हैं-

यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये इत्यात्मार्थे पिशाचता।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थ देवराजता॥ बोधि. 8/125

'यदि दूंगा तो मैं क्या खाऊंगा' यह विचार पिशाचवृत्ति है। अपने खाने को दूसरे की अपेक्षा पराये के लिए देने की भावना रखना ही देवराजता है।

आत्मार्थ पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थ सर्वसंपदः॥ बोधि. 8/126

अपने लिए दूसरे को पीड़ा देकर (मनुष्य को) नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वयं क्लेश उठाने से (मनुष्य को) सब सम्पत्तियां मिलती हैं।

दुर्गतिर्नीचता मोर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया।
तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः॥ बोधि. 8/127

अपने प्रकर्ष की जिस इच्छा से दुर्गति, परवशता और मूर्खता मिलती है, उसी (इच्छा) का दूसरों के हित में संक्रमण करने से सुगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती है।

आत्मार्थ परमाज्ञाप्य दासत्वायद्यनुभूयते।
परार्थ त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते॥ बोधि. 8/128

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को आज्ञा देकर, उस कर्म के परिणाम स्वरूप दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। किंतु दूसरे के हितए के लिए अपने को आज्ञा देकर उस कर्म के फलस्वरूप प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है।

ये केचिद् लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया॥
बोधि.8/129

संसार में जो कोई दुःखी है, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में जो कोई सुखी है, वे परकीय सुखेच्छा के कारण हैं।

इस समग्र चिंतन में यह फलित होता है कि बौद्धधर्म में लोकमंगल की उदात्त भावना भगवान बुद्ध से लेकर परवर्ती आचार्यों में भी यथावत कायम रही है। भगवान बुद्ध ने जो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का उद्घोष किया था वह बौद्ध धर्म दर्शन का मुख्य अधिष्ठान है।

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शांतिदेव के 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रंथ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियां मननीय हैं-

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हों निजबंध से, स्वच्छन्द हों सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में , दुःख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण ।।

धर्म निरपेक्षता और बौद्धधर्म

वैज्ञानिक प्रगति के परिणाम स्वरूप आज हमारा विश्व सिमट गया है। विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न धर्मों के लोग आज एक दूसरे के निकट सम्पर्क में हैं। साथ ही वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति के कारण और विशिष्टीकरण से हम परस्पराश्रित हो गए हैं। आज किसी भी धर्म और संस्कृति के लोग दूसरे धर्मों और संस्कृतियों से निरपेक्ष होकर जीवन नहीं जी सकते। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम परिवेशजन्य निकटता और पारस्परिक निर्भरता के बावजूद आज मनुष्य मनुष्य के बीच हृदय की दूरियां बढ़ती जा रही है। वैयक्तिक या राष्ट्रीय स्वार्थलिप्सा एवं महत्त्वाकांक्षा के कारण हम एक-दूसरे से कटते चले जा रहे हैं। धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों के संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं और मनुष्य आज भी धर्म के नाम पर दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्तप्लावन का शिकार हो रहा है। एक धर्म और एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय को मटियामेट करने पर तुले हुए हैं। इन सब परिस्थितियों में आज राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न अत्यंत प्रासंगिक हो गया है। धर्मनिरपेक्षता से ही धर्मों के नाम पर होने वाली इन सब दुर्घटनाओं से मानवता को बचाया जा सकता है।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम हमें यह विचार करना होगा कि धर्मनिरपेक्षता से हमारा क्या तात्पर्य है? वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता को अंग्रेजी शब्द 'सेक्युलरिज्म' का हिन्दी पर्यायावाची मान लिया गया है। हम अक्सर 'सेक्युलर स्टेट' की बात करते हैं। यहां हमारा तात्पर्य ऐसे राज्य/राष्ट्र से होता है जो किसी धर्म विशेष को राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करके अपने राष्ट्र में प्रचलित सभी धर्मों को अपनी-अपनी साधना पद्धति को अपनाने की स्वतंत्रता, अपने विकास के समान अवसर और सभी के प्रति समान आदर भाव प्रदान करता है। अतः राष्ट्रीय नीति के संदर्भ में 'सेक्युलरिज्म' का अर्थ धर्मविहीनता नहीं अपितु किसी धर्म विशेष को प्रमुखता न देकर, सभी धर्मों के प्रति समव्यवहार है। जो लोग धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म अथवा नीति विहीनता करते हैं, वे भी एक भ्रांत धारणा को प्रस्तुत करते हैं। कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र धर्मविहीन नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म एक जीवनशैली है। सेक्युलरिज्म या धर्मनिरपेक्षता के लिए महात्मा गांधी ने हमें 'सर्वधर्म समभाव' शब्द दिया था, जो अधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। सभी धर्मों की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए उनके विकास के समान अवसर प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता

है। इसका तात्पर्य है कि धार्मिक दुर्भिनिवेश एवं मताग्रह से मुक्त होना ही दृष्टि की परिवासना से मुक्त होना है। वह किसी दृष्टि/कर्मकाण्ड/उपासना पद्धति से बंधना नहीं है। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द भी अनेक अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह एक ओर वस्तुस्वरूप का सूचक है तो दूसरी ओर कर्त्तव्य और किसी साधना या उपासना की पद्धति विशेष का भी सूचक है। अतः जब हम धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के संदर्भ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करें, तो हमें उसके अर्थ के सम्बंध में स्पष्टता रखनी होगी। प्रस्तुत संदर्भ में धर्म का अर्थ न स्वभाव है, न कर्त्तव्य और न सदाचरण है। धर्म निरपेक्षता के संदर्भ में 'धर्म' शब्द आध्यात्मिक साधना और उपासना की पद्धति विशेष का परिचायक है, जो किस सीमा तक नीति और आचार के विशेष नियमों से भी जुड़ा है। अतः धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य उपासना या साधना की विभिन्न पद्धतियों की सापेक्षिक सत्यता और मूल्यवत्ता को स्वीकार करना है। संक्षेप में किसी एक धर्म/सम्प्रदाय/कर्मकाण्ड या उपासना की पद्धति के प्रति प्रतिबद्ध न होकर साधना और उपासना की सभी पद्धतियों को विकसित होने एवं जीवित रहने का समान अधिकार प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है।

जब हम बौद्धधर्म के संदर्भ में इस धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पर विचार करते हैं तो हमें इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि बौद्धधर्म भी एक धर्मविशेष ही है, अतः उसमें धर्मनिरपेक्षता का वह अर्थ नहीं है जिसे सामान्यतया हम स्वीकार करते हैं। उसमें धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य दूसरे धर्मों के प्रति समादर भाव से अधिक नहीं है। यह भी सत्य है कि बौद्धधर्म में अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की उसी प्रकार समीक्षा की गई है जिस प्रकार अन्य धर्मों एवं दर्शनों में बौद्धधर्म की गई थी। फिर भी बौद्धधर्म में सर्वधर्मसमभाव एवं धार्मिक सहिष्णुता के पर्याप्त आधार हैं।

भारतीय संस्कृति और भारतीय चिंतन प्रारम्भ से ही उदारवादी और समन्वयवादी रहा है। भारतीय चिंतन की इसी उदारता एवं समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप हिन्दूधर्म विभिन्न साधना और उपासना की पद्धतियों का एक ऐसा संग्रहालय बन गया कि आज कोई भी विद्वान हिन्दू धर्म की सुनिश्चित परिभाषा देने में असफल हो जाता है। उपासना एवं कर्मकाण्ड की आदिम प्रवृत्तियों से लेकर अद्वैत वेदांत का श्रेष्ठतम दार्शनिक सिद्धांत उसमें समाहित है। प्रकृति पूजा के विविध रूपों से लेकर निर्गुण-साधना का विकसित रूप उसमें परिलक्षित होता है। उसकी धार्मिक समन्वयशीलता हमारे सामने एक अद्वितीय आदर्श उपस्थित करती है।

भारतीय चिंतनधारा का ही अंग होने के कारण बौद्धधर्म भी अपने प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक धार्मिक समन्वयशीलता और सर्वधर्मसमभाव का आदर्श प्रस्तुत करता रहा है। क्योंकि उसने प्रतिद्वंद्वी धर्मों को शक्ति के बल पर समाप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। एक ओर उसकी इस समन्वयवादिता का परिणाम यह हुआ कि वह व्यापक हिन्दू धर्म में आत्मसात् होकर भारत में अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रख सका, किंतु दूसरी ओर उसने अपनी इस समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप विश्व के धर्मों में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर लिया और भारत के बाहर भूटान, तिब्बत, चीन, वियतनाम, जापान, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, बर्मा, लंका आदि देशों में उनकी संस्कृतियों से समन्वय साधते हुए अपने अस्तित्व का विस्तार कर लिया है। यहां हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि बौद्धधर्म ने अपना विस्तार सत्ता और शक्ति के बल पर नहीं किया है। बौद्धधर्म की उदार और समन्वयशील दृष्टि का ही यह परिणाम था कि वह जिस देश में गया वहां के आचार-विचार और नीति व्यवहार को, वहां के देवी-देवताओं को इस प्रकार से समन्वित कर लिया कि उन देशों के लिए वह एक बाहरी धर्म न रहकर उनका अपना ही अंग बन गया। इस प्रकार वह विदेश की भूमि में भी विदेशी नहीं रहा। यह उसकी समन्वयवादिता ही थी, जिसके कारण वह विदेशी भूमि में अपने को खड़ा रख सका।

बौद्धधर्म में धर्मनिरपेक्षता का आधार-दृष्टिगत का प्रहाण

धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्मसमभाव की अवधारणा तभी बलवती होती है जब व्यक्ति अपने को आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठा सके। आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए बौद्धधर्म में दृष्टिराग (दिट्ठी परिवासना) का स्पष्टरूप से निषेध किया गया है। बौद्धधर्म और साधना पद्धति की अनिवार्य शर्त यह है कि व्यक्ति अपने को दृष्टिराग से ऊपर उठाए, क्योंकि बौद्ध परम्परा में दृष्टिराग को ही मिथ्यादृष्टि और दृष्टिराग के प्रहाण को सम्यक्दृष्टि कहा गया है। यद्यपि कुछ विचारक यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म या दर्शन स्वयं में भी तो एक दृष्टि है। लेकिन यदि हम बौद्धधर्म का गम्भीरता से अध्ययन करें तो हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध का संदेश किसी दृष्टि को अपनाना नहीं था, क्योंकि सभी दृष्टियां तृष्णा के ही, राग के ही रूप हैं और सत्य के एकांश का ग्रहण करती हैं। इन दृष्टियों से ऊपर उठना ही बुद्ध की धर्मदेशना का सार है। दृष्टिराग से ऊपर उठना ही दृष्टिनिरपेक्षता है और इसे ही हम धर्मनिरपेक्षता कह सकते हैं। यद्यपि यह एक निषेधात्मक प्रयास ही अधिक है, जैनों के अनेकान्त के समान विधायक प्रयास नहीं है।

फिर भी बौद्धधर्म में सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की चर्चा हुई है, किंतु उसकी सम्यक्दृष्टि दृष्टिनिरपेक्षता या दृष्टिशून्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बौद्धधर्म की दृष्टि में सभी दृष्टियां ऐकान्तिक होती हैं। वह यह मानता है कि आग्रह या एकांगीदृष्टि राग के ही रूप हैं और जो इस प्रकार के दृष्टिराग में रहत रहता है वह सम्यक्दृष्टि को को उपलब्ध नहीं होता। अपितु जहां एक ओर स्वयं दृष्टिराग के कारण बंधन में पड़ा रहता है वहीं दूसरी ओर इसी दृष्टिराग के परिणामस्वरूप कलह और विवाद का कारण बनता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टिपक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है न बंधन में। वह विश्वशांति का साधक होता है।

सुत्तनिपात में बुद्ध बहुत ही मार्मिक शब्दों में कहते हैं कि 'जो अपनी दृष्टि' का दृढ़ाग्रही हो दूसरों को मूख मानता हैं, वह दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतलाने वाला स्वयं ही कलह का आह्वान करता है। वह किसी धारणा या दृष्टि पर अवस्थित हो, उसके द्वारा संसार में विवाद या कलह उत्पन्न करता है। किंतु जो सभी धारणाओं को त्याग देता है वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता है'।[1] क्योंकि दृष्टि राग बांधता है, जो बांधता है वह अन्यत्र से तोड़ता भी है और जो तोड़ेगा वह कलह और विनाश को आमंत्रित करेगा। बुद्ध पुनः स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियां हैं, पण्डित उन सबमें नहीं पड़ता है। दृष्टि को न ग्रहण करने वाला आसक्तिरहित पण्डित क्या ग्रहण करेगा? बुद्ध के शब्दों में जो लोग अपने धर्म को परिपूर्ण और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं, वे दूसरों की अवज्ञा (निंदा) से हीन होकर धर्म में श्रेष्ठ नहीं हो सकते।[2] जो किसी दृष्टि विशेष को मानता है, जो किसी वादविशेषमें आसक्त है वह मनुष्य शुद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि बुद्ध के शब्दों में विवेकी ब्राह्मण दृष्टि की तृष्णा में नहीं पड़ता, वह जो कुछ भी दृष्टि, श्रुति या विचार है, उन सब पर विजयी होता है और दृष्टियों से पूर्णरूप से मुक्त हो संसार में लिप्त नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धधर्म दृष्टिराग का निषेध करके इस बात का संदेश देता है कि व्यक्ति को साधना और आध्यात्म के क्षेत्र में किसी प्रकार के दुराग्रह से ग्रसित नहीं होना चाहिए। बौद्धधर्म की यह स्पष्ट धारणा है कि बिना दृष्टिराग को छोड़े कोई भी व्यक्ति न तो सम्यग्दृष्टि को प्राप्त हो सकता है और न निर्वाण के पथ का अनुगामी हो सकता है। इसीलिए बौद्धधर्म के सशक्त व्याख्याता विद्वान दार्शनिक नागार्जुन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं- तत्त्व का साक्षात्कार दृष्टियों के घेरे से ऊपर उठकर ही किया जा सकता है,

क्योंकि समग्र दृष्टियां (दर्शन) उसे दूषित ही करती हैं।इस प्रकार बौद्ध दर्शन का दृष्टिराग के प्रहाण का सिद्धांत धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। बुद्ध का संदेश सदैव ही आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठने का रहा है क्योंकि वे यह मानते हैं कि सत्य का दर्शन आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठकर ही हो सकता है।

बौद्ध दर्शन का विभज्यवाद का सिद्धांत भी हमें यही संदेश देता है कि सत्य का समग्ररूप से दर्शन करने के इच्छुक व्यक्ति को सत्य को ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं, अपितु अनैकान्तिक दृष्टि से देखना होगा। बौद्ध परम्परा में सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य को एक ही पहलू से देखता है वह मूर्ख है, पंडित तो सत्य को अनेक पहलुओं से देखता है।[3] विवाद का जन्म एकांगी दृष्टि से होता है क्योंकि एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं। जब हम सत्य को अनेक पहलुओं से देखते हैं, तो निश्चय ही हमारे सामने विभिन्न पहलुओं के आधार पर विभिन्न रूप होते हैं और ऐसी स्थिति में हम किसी एक विचारसरणी में आबद्ध न होकर सत्य का व्यापक रूप में दर्शन करते हैं। इसीलिए सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं विवाद (आग्रह) के दो फल बताता हूं- एक तो वह अपूर्ण और एकांगी होता है और दूसरे वह विग्रह और अशांति का कारण होता है।[4] निर्वाण जो कि हमारे जीवन का परम साध्य है वह तो निर्विवादता की भूमि पर स्थित है। इसलिए बुद्ध कहते हैं कि निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाला साधक विवाद में न पड़े।[5] भगवान बुद्ध की दृष्टि में पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाणमार्ग के पथिक के कार्य नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह तो मल्लविद्या है। राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह अपने प्रतिवादी को ललकारने वाले वादी को उस जैसे प्रतिवादी के पास भेजना चाहिए, क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध का कोई कारण ही शेष नहीं है और जो अपने मत या दृष्टि को सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहां कोई नहीं है।[6] इस प्रकार बौद्धदर्शन इस बात को भी अनुचित मानता है कि हम केवल अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निंदा करते रहें। बुद्ध स्वयं कहते हैं कि शुद्धि यहीं है दूसरे वर्णों में नहीं है, ऐसा अपनी दृष्टि में अतिदृढ़ाग्रही व्यक्ति तैर्थिक (मिथ्यादृष्टि) है। इस प्रकार दृष्टिराग ही मिथ्यादृष्टि है और दृष्टिराग का प्रहाण ही सम्यग्दृष्टि है।

धार्मिक संघर्ष की नियंत्रक तत्त्व प्रज्ञा

समग्र धार्मिक मतान्धता और संघर्ष इसीलिए होते हैं कि व्यक्ति धार्मिक संदर्भों

में विचार और तर्क की अपेक्षा श्रद्धा को अधिक महत्त्व देते हैं। तर्क और चिंतन से रहित श्रद्धा अंधश्रद्धा होती है और ऐसी अंधश्रद्धा से युक्त व्यक्तियों का उपयोग तथाकथित धार्मिक नेता अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कर लेते हैं। अतः धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा का स्थान स्वीकृत करते हुए भी उसे विवेक या चिंतन से रहित कर देना नहीं है। बौद्धधर्म ने सदैव ही श्रद्धा की अपेक्षा तर्क और प्रज्ञा को अधिक महत्त्व दिया है। आलारकलामसुत्त में बुद्ध स्पष्टरूप में कहते हैं कि हे कलाम! तुम मेरी बात को केवल इसलिए सत्य स्वीकार मत करो कि इनको कहने वाला व्यक्ति तुम्हारी आस्था या श्रद्धा का केंद्र है।

अध्यात्म और साधना के क्षेत्र में प्रत्येक बात को तर्क की तराजू पर तौल कर और अनुभव की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करना चाहिए। बुद्ध अन्य विचारकों की वैचारिक स्वतंत्रता का कभी हनन नहीं करना चाहते। इसके विपरीत वे हमेशा कहते हैं कि जो कुछ हमने कहा है उसे अनुभव की कसौटी पर कसो और सत्य की तराजू पर तौलो, यदि वह सत्य लगता है तो उसे स्वीकार करो।

बुद्ध के शब्दों में हे कलाम! जब तुम आत्म अनुभव से जानलो कि ये बातें कुशल हैं, निर्दोष हैं, इनके आधार पर चलने से सुख होता है तभी इन्हें स्वीकार करो अन्यथा नहीं। बुद्ध आस्था प्रधान धर्म के स्थान पर तर्क प्रधान धर्म का व्याख्यान करते हैं और इस प्रकार के धार्मिक मतान्धता और वैचारिक दुराग्रहों से व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं। उसे केवल शास्ता के प्रति आदर के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए। वस्तुतः धार्मिक जीवन में जब तक विवेक या प्रज्ञा को विश्वास या आस्था का नियंत्रक नहीं माना जाएगा तब तक हम धार्मिक संघर्षों और धर्म के नाम पर खेली जानी वाली होलियों से मानवजाति को नहीं बचा सकेंगे। धर्म के लिए श्रद्धा आवश्यक है, किंतु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। यह आवश्यक है कि शास्त्र की सारी बातों और व्याख्याओं को विवेक की तराजू पर तौला जाए और युगीन संदर्भ में उनका मूल्यांकन किया जाए। जब तक यह नहीं होता तब तक धार्मिक जीवन में आई संकीर्णता का मिट पाना सम्भव नहीं। विवेक ही ऐसा तत्त्व है जो हमारी दृष्टि को उदार और व्यापक बना सकता है। श्रद्धा आवश्यक है, किंतु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। आज आवश्यकता बौद्धिक धर्म की है और बुद्ध ने बौद्धिक धर्म का संदेश देकर हमें धार्मिक मतान्धताओं और धार्मिक आग्रहों से ऊपर उठने का संदेश दिया है।

बुद्ध का मध्यममार्ग धर्मनिरपेक्षता का आधार

बुद्ध ने अपने दर्शन को मध्यममार्ग की संज्ञा दी है। जिस प्रकार नदी की धारा कूलों में न उलझकर उनके मध्य से बह लेती है, उसी प्रकार बौद्धधर्म भी ऐकान्तिक दृष्टियों से बचकर अपनी यात्रा करता है। मध्यममार्ग का एक आशय यह भी है कि वह किसी भी दृष्टि को स्वीकार नहीं करता। सांसारिक सुखभोग और देहदण्डन की प्रक्रिया दोनों ही उसके लिए ऐकान्तिक है। एकान्तों के त्याग में ही मध्यम मार्ग की विशिष्टता है। मध्यममार्ग का अर्थ हे- परस्पर विरोधी मतवादों में किसी एक ही पक्ष को स्वीकार न करना। बुद्ध का मध्यममार्ग अनैकान्तिक दृष्टि का उदाहरणहै। यद्यपि वे केवल निषेधमुख से इतना ही कहते हैं कि हमें ऐकान्तिक दृष्टियों में नहीं उलझना चाहिए। धार्मिक निरपेक्षता का भी किसी सीमा तक यही आदर्श है कि हमें किसी एक धर्म विशेष या मतवाद विशेष में न उलझकर एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। बुद्ध के शब्दों में एकांशदर्शी ही आपस में झगड़ते और उलझते हैं। मध्यममार्ग का तात्पर्य है- विवादों से ऊपर उठना और इस अर्थ में वह किसी सीमा तक धर्मनिरपेक्षता का हामी है। बौद्धधर्म यह मानता है कि जीवन का मुख्य लक्ष्य तृष्णा की समाप्ति है। आसक्ति और अहं से ऊपर उठना ही सर्वोच्च आदर्श है। दृष्टिराग वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही एक रूप है और जब तक वह उपस्थित है तब तक मध्यममार्ग की साधना सम्भव नहीं है। अतः मध्यममार्ग का साधक इन दृष्टिरागों से ऊपर उठकर कार्य करता है। जैसा कि बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि पण्डित वही है जो उभय अन्तो का विवर्जन कर मध्य में स्थित रहता है। वस्तुतः माध्यस्थ दृष्टि ही धर्मनिरपेक्षता है।

बुद्ध का जीवन और धार्मिक सहिष्णुता

यदि हम बुद्ध के जीवन को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे स्वयं किसी धर्म या साधना-पद्धति विशेष के आग्रही नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी साधना के प्रारम्भ में अनेक धर्मनायकों, विचारकों और साधकों के जीवन्त सम्पर्क स्थापित किया था और उनकी साधना पद्धतियों को अपनाया। उदकरामपुत्त आदि अनेक साधकों के सम्पर्क में वे आए और उनकी साधना पद्धतियों को सीखा। यह समस्त चर्चा पालि त्रिपिटक में आज भी उपलब्ध है। चाहे आत्मतोष न होने पर उन्होंने उनका बाद में त्याग किया हो फिर भी उनके मन में सभी साधकों के प्रति सदा आदरभाव रहा और ज्ञान प्राप्ति के पश्चात भी उनके मन में यह अभिलाषा रही कि अपने द्वारा उद्घाटित सत्य का बोध उन्हें कराएं। यह

दुर्भाग्य ही था कि पंचवर्गी भिक्षुओं को छोड़कर शेष सभी आचार्य उस काल तक कालकवलित हो चुके थे, फिर भी बुद्ध के द्वारा उनके प्रति प्रदर्शित आदरभाव उनकी उदार और व्यापक दृष्टि का परिचायक है। यद्यपि बौद्धधर्म में अन्य तीर्थिकों के रूप में पूर्णकश्यप, निगंठनाटपुत्त, अजितकेशकंबलि, मंखलिगोशाल आदि की समालोचना हमें उपलब्ध होती है, किंतु ऐसा लगता है कि यह सब परवर्ती साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही परिणाम है। बुद्ध जैसा महानस्वी इन वैचारिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से युक्त रहा हो ऐसा सोचना सम्भव नहीं है।

पुनः बौद्धधर्म मूलतः एक कर्मकाण्डी धर्म न होकर एक नैतिक आचार पद्धति है। एक नैतिक आचार पद्धति के रूप में वह धार्मिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से मुक्त रह सकता है। उसके अनुसार तृष्णा की समाप्ति ही जीवन का परम श्रेय है और तृष्णा की परिसमाप्ति के समग्र प्रयत्न किसी एक धर्म परम्परा से सम्बद्ध नहीं किए जा सकते। वे सभी उपाय जो तृष्णा के भेदन में उपयोगी हों बौद्धधर्म को स्वीकार हैं। शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान होना बौद्ध विचारणा का मन्तव्य है किंतु इसे हम केवल बौद्धों का धर्म नहीं कह सकते। यह धर्म का सार्वजनीन और सार्वकालिक स्वरूप है और बौद्धधर्म इसे अपनाकर व्यापक और उदार दृष्टि का ही परिचायक बनता है। बौद्धधर्म में धर्म (साधना-पद्धति) एक साधन है वह पकड़कर रखने के लिए नहीं है और उसे भी छोड़ना ही है, अतः वह साधना के किसी विशिष्ट मार्ग का आग्रही नहीं है।

उपसंहार

वस्तुतः वैयक्तिक भिन्नताओं के आधार पर साधनागत और आचारगत भिन्नताएं स्वाभाविक हैं। अतः मानवीय एकता और मानवीय संघर्षों की समाप्ति के लिए एक धर्म का नारा न केवल अशक्य है अपितु अस्वाभाविक भी है। जब तक व्यक्तियों में रुचिगत और स्वभावगत भेद है तब तक साधनागत भेद भी अपरिहार्य रूप से बने रहेंगे। इसीलिए तो बुद्ध ने किसी एक यान का उपदेश न देकर विविध यानों (धर्म मार्गों) का उपदेश दिया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन साधनागत भेदों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समन्वित कर तथा उनकी उपादेयता को स्वीकार कर एक ऐसी जीवनदृष्टि का निर्माण करें जो सभी की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए मानव कल्याण में सहायक बन सके।

संदर्भ

1. सुत्तनिपात 50/16-17
2. सुत्तनिपात 51/3, 10-11, 16-20
3. थेरगाथा 1/106
4. उदान 6/4
5. सुत्तनिपात 51/2
6. सुत्तनिपात 46/8-9

महायान सम्प्रदाय की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि

बौद्धधर्म की महायान शाखा की मध्यम प्रतिपदा का विकास किन परिस्थितियों में और किन प्रभावों के परिणाम-स्वरूप हुआ, यही इस निबंध का विवेच्य विषय है।

बौद्धधर्म श्रमण परम्परा का धर्म है, किंतु इसी संदर्भ में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया वह निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा के साथ समन्वय का प्राथमिक प्रयास था। श्रमणधारा और वैदिक धारा मूलतः दो भिन्न जीवनदृष्टियों पर खड़ी हुई थीं। सामान्यतया श्रमण परम्परा से निवृत्तिमार्गी धर्मों का ही ग्रहण होता है। निवृत्तिमार्गी धर्म मूलतः निर्वाणलक्षी, ज्ञानमार्गी एवं तपस्याप्रधान थे, उनका मूलभूत लक्ष्य तपस्या और ज्ञान के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना था। उनकी दृष्टि में सांसारिक अस्तित्व दुःखमय है और उससे छुटकारा पाना ही जीवन का आदर्श है। इसके विपरीत वैदिक परम्परा जीवन को और सांसारिक अस्तित्व को आशा भरी दृष्टि से देखती थी। वर्त्तमान जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य था। यह कहना भी अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि जहां वैदिक परम्परा में भौतिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि ही जीवन का लक्ष्य बनी, वहां श्रमणधारा के प्रारम्भिक रूपों में जीवन के निषेध का स्वर ही अधिक उभरा। वस्तुतः वैदिकधारा और श्रमणधारा मानव जीवन के दो आधार- देह और चेतना अथवा भोग और प्रारम्भिक श्रमण धर्मों का लक्ष्य त्याग रहा, दूसरे शब्दों में वैदिक धर्म प्रवृत्ति प्रधान और श्रमणधर्म

निवृत्ति प्रधान बना, किंतु मानव अस्तित्व इस प्रकार का है कि वह न केवल भोग पर और न केवल त्याग पर खड़ा रह सकता है, उसे जीवन के लिए भोग और त्याग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, वासना की संतुष्टि एवं विवेक का विकास सभी आवश्यक है। दैहिक और सामाजिक मूल्यों के साथ ही उसके लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य भी आवश्यक है।

अतः परिणाम यह हुआ कि भोग एवं त्याग के ऐकान्तिक आधारों पर खड़ी हुई धर्म-परम्पराएं उसे अपने जीवन का सम्यक् समाधान नहीं दे सकीं। परिणामस्वरूप भोग और त्याग तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक समन्वय अथवा सम्यक् संतुलन बनाने का प्रयत्न हुआ।

इस समन्वय की धारा को हम सर्वप्रथम ईशावास्योपनिषद् में देखते हैं जहां 'तेन त्यक्तेन भुंजिथा' में त्याग और भोग का समन्वय किया गया है। वैदिक धारा में विकसित औपनिषदिक चिंतन इस समन्वय का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यही समन्वय की धारा आगे चलकर गीता में अधिक पुष्पित एवं पल्लवित होती है। गीता की जीवन दृष्टि ईशावास्योपनिषद की जीवन दृष्टि का ही एक विकसित रूप है। जिस प्रकार वैदिक धारा में उपनिषद् एवं गीता समन्वय की दृष्टि को लेकर आगे आते हैं उसी प्रकार श्रमण परम्परा में बौद्धधर्म समन्वय का सूत्र लेकर आगे आता है। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्धधर्म ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मध्य या व्यक्ति और समाज के मध्य एक समन्वय का प्रयत्न तो किया था किंतु उसे विकसित किया उसकी महायान परम्परा ने।

वैदिक परम्परा में यदि गीता प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य एक उचित समन्वय का प्रयास करती है, तो श्रमण परम्परा में महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक सांग-संतुलन को प्रस्तुत करता है।

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता और महायान परम्परा एक दूसरे के अधिक निकट हैं। दोनों में कोई अंतर है तो वह अंतर उनके उद्गम स्थल या उनकी मूलधारा का है। अपने उद्गम के दो भिन्न केंद्रों पर होने के कारण ही उनमें भिन्नता रही हुई है। वे अपनी मूलधारा से टूटना नहीं चाहते अन्यथा दोनों की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि लगभग समान है। अनेक तथ्यों के संदर्भों में हम उनकी इस समन्वयात्मक जीवनदृष्टि को देख सकते हैं।

गृहस्थ धर्म बनाम-संन्यास

प्रारम्भिक वैदिक धर्म में संन्यास का तत्त्व अनुपस्थित था, गृहस्थ जीवन को ही

एक मात्र जीवन का कर्मक्षेत्र माना जाता था। प्रारम्भिक वैदिक ऋषि पत्नियों से युक्त थे, जबकि श्रमण परम्परा प्रारम्भ से ही संन्यास को प्राथमिकता देती थी तथा पारिवारिक जीवन को बंधन मानती थी।

वैदिक धर्म में यद्यपि आगे चलकर निवृत्तिमार्गी श्रमणधर्म के प्रभाव के कारण वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का प्रवेश हुआ, किंतु फिर भी उसमें गृही जीवन को ही जीवन का उच्चतम आदर्श तथा सभी आश्रमों का आधार समझा गया और 'अपुत्रस्य गतिनास्ति' कहकर गृही जीवन के दायित्वों को निर्वाह करने हेतु बल दिया गया। जबकि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराओं में गृहस्थ जीवन की निंदा की गई और संन्यास को ही निर्वाण या मुक्ति का एक मात्र उपाय माना गया।

प्रारम्भिक जैन एवं बौद्धधर्म गृहस्थ जीवन की निंदा करते हैं। जैन आगम दशवैकालिकसूत्र[1] में कहा गया है कि गृहस्थ जीवन क्लेश युक्त है और संन्यास क्लेश मुक्तः गृहस्थ जीवन पापकारी है और संन्यास निष्पाप है। इसी प्रकार सुत्तनिपात[2] में भी संन्यास जीवन की प्रशंसा तथा गृहस्थ की निंदा करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ जीवन कण्टकों से पूर्ण वासनाओं का घर है जबकि प्रव्रज्या खुले आसमान के समान निर्मल है। जैन एवं बौद्ध-दोनों ही धर्मों के प्राचीन ग्रंथों में हमें ऐसा कोई उल्लेख देखने को नहीं मिला, जिसमें गृहस्थ जीवन की, प्रशंसा की गई हो।

जैन आगम उपासकदशांग में दश गृहस्थ उपासकों का जीवन वृत्तांत वर्णित है, किंतु उनको केवल स्वर्गवासी बताया गया है, मोक्षगामी नहीं। इसी प्रकार पिटक साहित्य में बुद्ध स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि गृहस्थ जीवन को छोड़े बिना सम्भव नहीं। किंतु इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि महायान परम्परा और जैनों की श्वेताम्बर परम्परा तथा भगवद्गीता स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि निर्वाण या मुक्ति के लिए गृही जीवन का त्याग अनिवार्य नहीं है। महायान साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां साधक गृहस्थ जीवन से सीधा ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है। इसी प्रकार गीता मुक्ति के लिए संन्यास को आवश्यक नहीं मानती। उसके अनुसार गृहस्थ भी मुक्ति का अधिकारी है।

महायान, श्वेताम्बर जैन परम्परा और भगवद्गीता में किसके प्रभाव से यह अवधारणा विकसित हुई यह बता पाना तो कठिन है लेकिन इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिंतन में ईसा की प्रथम शताब्दी में जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच अथवा संन्यास एवं

गृही जीवन के बीच जो समन्वयात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई थी, यह उसी का परिणाम था। इन तीनों ही परम्पराओं में यह स्वीकार कर लिया गया है कि निर्वाण के लिए संन्यास अनिवार्य तत्त्व नहीं है। मुक्ति का अनिवार्य तत्त्व है- अनासक्त, निष्काम, वीततृष्ण और वीतराग जीवन दृष्टि का विकास। फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि यह श्रमण परम्परा पर वैदिक धारा का प्रभाव ही था, जिसके कारण उसमें गृहस्थ जीवन को भी कुछ सीमाओं के साथ अपना महत्त्व एवं स्थान प्राप्त हुआ। फिर भी जहां महायान और जैन परम्परा में भिक्षु संघ की श्रेष्ठता मान्य रही, वहां गीता में 'कर्मसंन्यासात् कर्मयोगों विशिष्यते' कहकर गृही जीवन की श्रेष्ठता को मान्य किया गया।

वैयक्तिकता बनाम सामाजिकता

यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएं निवृत्तिमार्गी होने के कारण व्यक्तिनिष्ठ थीं। व्यक्ति की मुक्ति और व्यक्ति का आध्यात्मिक कल्याण ही उनका आदर्श था। प्रारम्भिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म भी हमें व्यक्तिनिष्ठ ही परिलक्षित होते हैं, जबकि प्रारम्भिक वैदिक धर्म में पारिवारिक जीवन की स्वीकृति के साथ ही सामाजिक चेतना का विकास देखा जाता है। वेदों में 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' अथवा 'समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्' के रूप में सामाजिक चेतना का स्पष्ट उद्घोष है। यद्यपि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएं घर-परिवार और सामाजिक जीवन से विमुख ही रही हैं, फिर भी प्रारम्भिक बौद्धधर्म और जैनधर्म में श्रमण संघों के अस्तित्व के साथ एक दूसरे प्रकार की सामाजिक चेतना का विकास अवश्य हुआ है। इन्होंने क्रमशः 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं' बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' अथवा 'समेच्चलोयं..... खेयन्ने हि पवइए' के रूप में लोकमंगल और लोककल्याण की बात कही है। फिर भी इनके लिए लोकमंगल और लोक-कल्याण का अर्थ इतना ही था कि संसार के प्राणियों को जन्म मरण के दुःख से मुक्त किया जाए। समाज का भौतिक कल्याण और समाज के दीन-दुःखियों को वास्तविक सेवा का व्यवहार्य पक्ष उनमें परिलक्षित नहीं होता। भिक्षु-जीवन में संघीय चेतना का विकास तो हुआ, फिर भी समाज के सामान्य सदस्यों के भौतिक कल्याण के साथ जुड़ नहीं पाया। जैनधर्म का भिक्षु संघ तो आज तक भी समाज के वास्तविक भौतिक कल्याण तथा रोगी और दुःखियों की सेवा को अपनी जीवन चर्या का आवश्य अंग नहीं मानता। मात्र सेवा का उपदेश देता है, करता नहीं है। श्रमण परम्पराओं ने सामाजिक जीवन में सम्बंधों की शुद्धि का प्रयत्न तो अवश्य किया और उन तथ्यों का

निराकरण भी किया जो सामाजिक जीवन को दूषित करते थे। फिर भी वे अपनी निवृत्तिमार्गी दृष्टि के कारण विधायक सामाकिता का सृजन नहीं कर सके। निवृत्तिमार्गी परम्परा में सामाजिक-चेतना का सर्वाधिक विकास यदि कहीं हुआ है तो वह महायान परम्परा में। महायान परम्परा में सामाजिक चेतना का जो विकास हुआ है, उसे उसके ग्रंथ बोधिचर्यावतार में बहुत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। समाज की आंगिकता का सिद्धांत, जो आज बहुत चर्चा का विषय है, का स्पष्ट उल्लेख भी इस ग्रंथ में प्राप्त होता है।

बौद्धधर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहां तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई रुचि नहीं रहती। महायानी साधक कहता है- दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनंद मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना[1]।

साधना के साथ सेवा की भावना का कितना सुंदर समन्वय है। लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंह जी उपाध्याय के स्वर में स्वर मिलाकर कहना पड़ता है, कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है। आचार्य शांतिदेव भी केवल परोपकार या लोक-कल्याण का संदेश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्कामभाव पर बल देते हैं। निष्कामभाव से लोक-कल्याण कैसे किया जाए, इसके लिए शांतिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे उनके मौलिक चिंतन का परिणाम है। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्कामभाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी परब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अवधारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धांत पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शांतिदेव के ग्रंथों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्मयोग की अवधारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि 'जिस

प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से अपनेपन का भाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग अपने शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूं, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किए बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा करते हो[3] ? जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किए बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख दूर किए बिना नहीं रह सकता।' इस प्रकार आचार्य समाज की सावयवता को सिद्ध कर इस लोकमंगल की साधना में लोकमंगल का संदेश देते हुए आगे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं- 'जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती, उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है[4]। क्योंकि परार्थ द्वारा हमें अपने ही समाजरूपी शरीर को या उसके अवयवों की संतुष्टि करते हैं इसलिए मात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय न विपाकफल की इच्छा ही[5]।' महायान में बोधिसत्व और गीता में स्थितप्रज्ञ के जो आदर्श हैं वे व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्त्व देते हैं। उन्होंने वैयक्तिक कल्याण या स्वहित के स्थान पर सामाजिक कल्याण को महत्त्व दिया है और इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर समाज को प्रतिष्ठित किया है।

महायान के बोधिसत्व का लक्ष्य मात्र वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना नहीं। वह तो लोकमंगल के लिए अपने बंधन और दुःख की भी कोई परवाह नहीं करता। वह कहता है-

'बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति,
उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनोः ।[6]
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः,
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षणारसिकेन किम् ॥'[7]

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक् उनके

दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनंद प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है। वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को व्यक्त करते हुए भागवत, जिसमें गीता के चिंतन का ही विकास देखा जाता है, के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने भी स्पष्ट रूप से कहा था कि -

'प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामाः ।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ॥
नेतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्षु एको ।
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।।[8]

हे प्रभु! अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं , जो मंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे। किंतु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।

स्वहित बनाम लोकहित का प्रश्न

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया-- प्रारम्भिक श्रमणधर्म एकान्त साधना और वैयक्ति मुक्ति पर ही बल देते थे। यद्यपि हमें उनकी यह एकान्त साधना और वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा जन कल्याण के विपरीत नहीं थी, फिर भी उसमें लोकहित का एक विधायक पक्ष उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः भगवान बुद्ध प्रथम श्रमण थे, जिन्होंने लोकमंगल की चेतना को विकसित किया। पालि अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध का कथन है कि भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गंदा हो, चंचल हो और कीचड़युक्त हो, तो वहां किनारे पर खड़े आंख वाले आदमी को भी न सीप दिखाई दे, न शंख, न कंकड़, न पत्थर, न चलती हुई या स्थित मछलियां। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मैले (राग-द्वैषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा , परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परहित को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा''[9]

।

बुद्ध के इस कथन का सार यही है कि जीवन में जब तक राग-द्वेष और मोह की

वृत्तियां सक्रिय हैं , तब तक आत्महित और लोकहित की यथार्थदृष्टि उत्पन्न नहीं होती है और जब यह यथार्थ दृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब स्वार्थ, परार्थ और उभयार्थ में कोई विरोध ही नहीं रहता। हीनयान या स्थविरवाद में जो स्वहितवाद अर्थात् आत्मकल्याण के दृष्टिकोण का प्राधान्य है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियां मानी जा सकती हैं, फिर भी हीनयान का उस लोकमंगल की साधना से मूलतः कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधक न हो। जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना से मूलतः कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधक न हो जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना में अविरोध है उस अवस्था तक लोकमंगल उसे भी स्वीकार है। वह मात्र लोकमंगल के लिए आंतरिक और नैतिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देता है। आंतरिक पवित्रता एवं नैतिक विशुद्धि शून्य होकर फलाकांक्षा से युक्त लोकसेवा के आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी समग्र आलोचनाएं ऐसे ही लोकहित के प्रति है। भिक्षु पारापरिय ने, बुद्ध के परवर्ती भिक्षुओं में लोकसेवा का जो थोथा आदर्श जोर पकड़ लिया था, उसकी समालोचना में निम्न विचार प्रस्तुत किए हैं-

लोगों की सेवा काय से करते हैं, धर्म से नहीं।
दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं,
(अपने) लाभ के लिए, न कि (उनके) अर्थ के लिए।[10]

स्थविरवादी भिक्षुओं का विरोध लोकसेवा के उस रूप से है जिसका सेवारूपी शरीर तो है, लेकिन जिसकी नैतिक चेतनारूपी आत्मा मर चुकी है। वह लोकसेवा सेवा नहीं , सेवा का प्रदर्शन है, दिखावा है, ढोंग है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। डॉ. भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार एकान्तता की साधना की प्रारम्भिक बौद्धधर्म में प्रमुखता अवश्य थी, परंतु सार्थक तथ्य यह है कि उसे लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत कभी नहीं माना गया। बल्कि यह तो उसके लिए एक तैयारी थी।[11] दूसरी ओर यदि हम महायानी साहित्य का गहराई से अध्ययन करें तो हमें बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, लंकावतारसूत्र जैसे ग्रंथों में भी कहीं ऐसी सेवाभावना का समर्थन नहीं मिलता जो नैतिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्यों के विरोध में खड़ी हो। लोकमंगल का जो आदर्श महायान परम्परा ने प्रस्तुत किया है, वह भी ऐसे किसी लोकहित का समर्थन नहीं करता, जिसके लिए वैयक्तिक नैतिकता को समाप्त कर दिया जाए। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से लोकहित और

आत्महित की अवधारणा में हीनयान और महायान में कोई मौलिक विरोध नहीं रहा जाता। यद्यपि व्यावहारिक रूप से यह तथ्य सही है कि जहां एक ओर हीनयान ने एकल साधना और व्यक्तिनिष्ठ आचार-परम्परा का विकास किया और साधना को अधिकांशरूपेण आंतरिक एवं वैयक्तिक बना दिया, वहां दूसरी ओर महायान ने उसी की प्रतिक्रिया में साधना के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा कर उसे सामाजिक और बहिर्मुखी बना दिया। इस तरह लोकसेवा और लोकानुकम्पा को अधिक महत्त्व दिया। यहां हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हीनयान और महायान ने जिस सीमा तक अपने में इस एक पक्षीयता को प्रश्रय दिया है, वे उसी सीमा तक बुद्ध की मध्यमार्गीय देशना से पीछे भी हटे हैं।

हिन्दू परम्परा में गीता में स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। गीताकार की दृष्टि में जो अपने लिए ही पकाता और खाता है वह पाप ही खाता है।[12] स्वहित के लिए जीने वाला व्यक्ति गीता की दृष्टि में अधार्मिक और नीच है। गीताकार के अनुसार जो व्यक्ति प्राप्त भोगों को देने वाले को दिए बिना अर्थात् उनका ऋण चुकाए बिना खाता है वह चोर है।[13] सामाजिक दायित्वों का निर्वाह न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है।

गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। प्राणियों के हित सम्पादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता हैं वह ब्रह्म-निर्वाण का अधिकारी होता है।[14] जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है, जो जीवन मुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोक-हितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।[15] श्रीकृष्ण अर्जुन से ही कहते हैं कि लोकसंग्रह (लोकहित) के लिए तुझे कर्त्तव्य करना उचित है।[16] गीता में भगवान के अवतार धारण करने का उद्देश्य साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना है।[17]

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें बौद्ध आचार्य शांतिदेव के शिक्षा समुच्चय, नामक ग्रंथ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियां मननीय हैं-

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,

वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में , दुःख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण।।[18]

भोगवाद बनाम वैराग्यवाद

भोगवाद और वैराग्यवाद भारतीय चिंतन की आधारभूत धारणाएं हैं। वैराग्यवाद निवर्तक धर्मों का मूल है तो भोगवाद प्रवर्तक धर्मों का। वैराग्यवाद शरीर और आत्मा तथा वासना और विवेक के द्वैत पर आधारित धारणा है। वह यह मानता है कि शरीर बंधन का कारण है और समस्त अधर्मों का मूल है, अतः शरीर और इन्द्रियों की मांगों को ठुकराना ही श्रेयस्कर है। इसके विपरीत भोगवाद यह मानता है कि शरीर की मांगों की पूर्त्ति करना उचित एवं नैतिक है। भारतीय परम्परा में जैनधर्म विशुद्ध रूप से वैराग्यवादी परम्परा का समर्थक रहा है और इसी दृष्टि से उसने किसी सीमा तक देह दण्डन और आत्म-पीड़न के तथ्यों को अपनी साधना पद्धति का अंग भी माना। जैसा कि हमनें पूर्व में संकेत किया है श्रमण परम्परा के भगवान बुद्ध प्रथम व्यक्ति हैं , जिन्होंने इन दोनों के मध्य एवं संतुलन बनाते हुए मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है। बुद्ध कठोर मार्ग (देह दण्डन) और शिथिल मार्ग (भोगवाद) दोनों को ही अस्वीकार करते हैं। बुद्ध के अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन का मार्ग मध्यम मार्ग है। उदान में भी बुद्ध अपने इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -- 'ब्रह्मचर्य (संन्यास) के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है-- यह एक अन्त है। काम-भोगों के सेवन में कोई दोष नहीं यह दूसरा अंत है। इन दोनों प्रकार के अंतों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है और मिथ्या धारणा बढ़ती है।' इस प्रकार बुद्ध अपने मध्यममार्गीय दृष्टिकोण के आधार पर वैराग्यवाद और भोगवाद में यथार्थ समन्वय स्थापित करते हैं। भगवान बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग के विकास का उपदेश दिया था, उसी का विकास महायान परम्परा में हुआ, यद्यपि यह सत्य है कि मध्यम मार्ग का उपदेश देते हुए भी बुद्ध ने भोग की अपेक्षा वैराग्य पर कुछ अधिक बल दिया था, जबकि महायान साधना

किसी सीमा तक भोगवाद की ओर अधिक झुक गई। महायानी बौद्ध आचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती, अतः इस प्रकार बरतना चाहिए कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो। वासनाओं के दमन की प्रक्रिया चित्त शांति की प्रक्रिया नहीं है। यही कारण है कि आगे चलकर महायान में दैहिक इच्छाओं के दमन की ओर महायान का यह झुकाव उसे तन्त्रयान और वाममार्ग की दिशा में प्रवृत्त कर देता है।

दैहिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति और आत्म-पीड़न की आलोचना के सम्बंध में महायान का दृष्टिकोण गीता के अत्यंत निकट है। गीता का अनासक्ति योग भी भोगवाद और वैराग्यवाद की समस्या का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि गीता में अनेक स्थानों पर वैराग्य भाव का उपदेश है, किंतु यह स्पष्ट है कि गीता वैराग्य के नाम पर देह-दण्डन की प्रक्रिया की समर्थक नहीं है।

निष्कर्ष

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि महायान सम्प्रदाय ने प्रवर्त्तक धर्म की अनेक अवधारणाओं को श्रमण परम्परा के अनुरूप रूपान्तरित किया है, वह उसकी मौलिक विशेषता है। गृहस्थजीवन से सीधे निर्वाण की सम्भावना को स्वीकार कर उसने संन्यास और गृही जीवन के मध्य एक सार्थक संतुलन बनाया है जिसमें संन्यास का महत्त्व भी यथावत् सुरक्षित रह सका है। इसके साथ ही श्रमण संस्था को समाज सेवा और लोकमंगल का भागीदार बनाकर श्रमण परम्परा पर होने वाले स्वार्थवादिता के आक्षेप का परिहार कर दिया है और भिक्षु संघ को समाज जीवन का एक उपयोगी अंग बना दिया है। वैदिक धर्म या गीता की अवतारवाद की अवधारणा को परिमार्जित कर श्रमण परम्परा के अनुरूप बोधिसत्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। यहां हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि अवतार के समान बोधिसत्व भी लोकमंगल के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है, प्राणियों का कल्याण ही उसके जीवन का आदर्श है। बोधिसत्व और अवतार की अवधारणा में तात्त्विक अंतर होते हुए लोकमंगल के सम्पादन में दोनों समान रूप से प्रवृत्त होते हैं। जैनों के तीर्थंकर और हीनयान के बुद्ध के आदर्श ऐसे आदर्श हैं, जो निर्वाण के उपरांत अपने भक्तों की पीड़ा के निवारण में सक्रिय रूप से साझीदार नहीं बन सकते। अतः भक्त हृदय और मानव को संतोष देने के लिए जैनों ने शासनदेव और देवियों (यक्ष-यक्षियों) की अवधारणा प्रस्तुत की, तो महायान सम्प्रदाय ने तारा आदि देवी-देवताओं को अपनी साधना में स्थान प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान सम्प्रदाय

वैदिक परम्परा में विकसित गीता की अनेक अवधारणाओं से वैचारिक साम्य रखता है। प्रवृत्तिमार्गी धर्म के अनेक तत्त्व महायान परम्परा में इस प्रकार आत्मसात हो गए कि आगे चलकर उसे भारत में हिन्दू धर्म के सामने अपनी अलग पहचान बनाए रखना कठिन हो गया और उसे हिन्दू धम ने आत्मसात कर लिया। जबकि उसी श्रमण धारा का जैनधर्म निवृत्त्यात्मक पक्ष पर बराबर बल देता रहा है और अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखा।

संदर्भ -

1. दशचूलिका 1/11-13
2. सुत्तनिपात - 2/72
3. बोधिचर्यावतार, 8/99
4. वही, 8/116
5. वही 8/109
6. बोधिचर्यावतार- 8/105
7. वही- 8/108
8. श्रीमद्भागवत् 9/44
9. अंगुत्तरनिकाय
10. थेरगाथा, 941-942
11. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 609
12. गीता, 3/13
13. वही, 3/12
14. वही, 5/25, 12/4
15. वही, 3/18
16. वही, 3/20
17. वही, 4/8
18. शिक्षासमुच्चय, अनूदित, धर्मदूत, मई 1941

बौद्धत्रिपिटक साहित्य के अनुवाद में पं.राहुलजी के जैनधर्म सम्बंधी मन्तव्यों की समालोचना

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भारतीय वांग्मय के विश्रुत विद्वान थे। हिन्दी साहित्य की विविध-विधाओं में भारतीय वांग्मय को उनका अवदान अविस्मरणीय है। दर्शन के क्षेत्र में राहुलजी ने जितना अधिक पाश्चात्य दर्शनों, विशेष रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं बौद्धदर्शन के सम्बंध में लिखा, उसकी अपेक्षा जैनदर्शन के क्षेत्र में उनका लेखन बहुत ही अल्प है। उनके ग्रंथ 'दर्शन-दिग्दर्शन' में वर्धमान महावीर और अनेकान्तवादी जैन दर्शन के सम्बंध में जो कुछ लिखा है, उसे अथवा बौद्धग्रंथों में आने वाली जैनधर्म-दर्शन सम्बंधी समीक्षाओं के हिन्दी अनुवाद को छोड़कर उन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में कुछ लिखा हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। अतः यहां जैनदर्शन के क्षेत्र में उनके विचारों की समीक्षा इन्हीं ग्रन्थांशों के आधार पर की गई है।

उन्होंने अपने ग्रंथ 'दर्शन-दिग्दर्शन' में जैन परम्परा का उल्लेख विशेषरूप से दो स्थलों पर किया है-- एक तो बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों के संदर्भ में और दूसरा जैनदर्शन के स्वतंत्र प्रतिपादन के क्षेत्र में। बौद्धग्रंथों में वर्णित छः तीर्थंकरों में वर्द्धमान महावीर का उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञतावादी के रूप में किया है, किंतु उन्होंने यह समग्र विवरण बौद्धग्रंथों के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों और विशेष रूप से वर्द्धमान महावीर के संदर्भ में यदि वे बौद्धेतर स्रोतों को भी आधार बनाते तो उनके साथ अधिक न्याय कर सकते थे, क्योंकि बौद्धग्रंथों में महावीर का जो चित्रण निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (नाटपुत्त) के रूप में है उसमें सत्यांश तो है, किंतु वह एक आलोचक दृष्टि से ही लिखा गया है, अतः उनके व्यक्तित्व को सम्यक् रूप से प्रस्तुत नहीं करता है। महावीर के सम्बंध में दीघनिकाय के आधार पर वे लिखते हैं --

'महावीर की मुख्य शिक्षा को बौद्धत्रिपिटक में इस प्रकार उद्धृत किया गया है-- निग्रंथ (जैन साधु) चार संवरों (संयमों) से संवृत्त रहता है। 1. निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है, (जिससे जल के जीवन न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से वह पाप रहित (धूतपाप) होता है, 4. सभी पापों का वारण में लगा रहता है। ... चूंकि निर्ग्रंथ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत्त रहता है इसलिए वह -- गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता

है।' (दर्शनदिग्दर्शन, पृ.495)

इस विवरण में महावीर की शिक्षाओं को चार्तुयाम संवर के रूप में प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने जिस चार्तुयाम संवर का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह चार्तुयाम संवर का मार्ग महावीर का नहीं, पार्श्व का है। परवर्तीकाल में जब पार्श्व की निर्ग्रंथ परम्परा महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो गई, तो त्रिपिटक संकलनकर्त्ताओं ने दोनों धाराओं को एक मानकर पार्श्व के विचारों को भी महावीर के नाम से ही प्रस्तुत किया। त्रिपिटक के संकलन कर्त्ताओं की इस भ्रांति का अनुसरण राहुलजी ने भी किया और अपनी ओर से टिप्पणी के रूप में भी इस भूल के परिमार्जन का कोई प्रयत्न नहीं किया। जबकि उनके सहकर्मी बौद्धभिक्षु जगदीश काश्यपजी ने इस भूल के परिमार्जन का प्रयत्न दीघनिकाय की भूमिका में विस्तार से किया है, वे लिखते हैं-- 'सामञ्ञवफलसुत्त' में वर्णित छः तैर्थिकों के मतों के अनुसार, अपने-अपने साम्प्रदायिक संगठनों के केंद्र अवश्य रहे होंगे। इनके अवशेष खोजने के लिए देश के वर्त्तमान धार्मिक-जीवन में खोज करना सार्थक होगा। कम से कम 'निगण्ठ-नातपुत्त' से हमलोग निश्चित रूप से परिचित हैं। वे जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ही हैं। पालि-संस्करण में वे ही 'चातुर्याम संवर' सिद्धांत के प्रर्वत्तक कहे जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भूल से हो गया है। वास्तव में 'चातुर्याम-धर्म' के प्रर्वत्तक उनके पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे-- सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं एवं मुस्सावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं (ठाणांग (ठाण 4), पृ.201, सूत्र 266)।

उपर्युक्त वर्णित 'चार्तुयाम संवर' सिद्धांत में परिग्गहवेरमणं' नामक एक और व्रत जोड़कर पार्श्वनाथ के परवर्ती तीर्थंकर महावीर ने 'पंचमहाव्रत-धर्म'का प्रवर्त्तन किया। (ज्ञातव्य है कि यहां काश्यपजी से भी भूल हो गई है, वस्तुतः महावीर ने परिग्रह विरमण नहीं, मैथुनचिरमण या ब्रह्मचर्य का महाव्रत जोड़ा था। 'बहिद्धदाण' का अर्थ तो परिग्रह है ही। पार्श्व स्त्री को भी परिग्रह ही मानते थे।)

यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिस रूप में पालि में 'चातुर्यामसंवर' सिद्धांत का उल्लेख मिलता है, वैसा जैन साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पालि में यह इस प्रकार वर्णित है-- 'सब्बवारिवारिता च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो' और इसका अर्थ भी स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इसे देखकर यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः यह तोड़-मरोड़ के ही कारण है।' (दीघनिकाय-नालंदासंस्करण, प्रथमभाग

की भूमिका पृ.13-14)। अतः राहुलजी ने चार संवरों का उल्लेख जिस रूप में किया है, वह और दीघनिकाय के इस अंश का जो हिन्दी अनुवाद राहुलजी ने किया है वह भी, निर्दोष नहीं है। दीघनिकाय का वह मूलपाठ, उसकी अट्ठकथा और अनुवाद इस प्रकार है-- 'एवं वुत्ते, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो मं अतदवोच- इध महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति? महाराज निगण्ठो कथं च महाराज निगण्ठो चातुयाम संवरोसंवुतो होति? इध सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुततो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो च एवं खो, महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति-- अयं वुच्चाति, महाराज निगण्ठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो चा ति।' (दीघनिकाय 2/5/28) नाटपुत्तपादे चातुयामसंवरसंवुतो हि चतुकोट्ठासेन संवरेन संवुतो। सब्बवारितो चाति वारितसब्बउदको पटिक्खित्तसब्बसीतोदको ति अत्थो। सो किर सीतोदके सत्तसञ्ञ हाति, तस्मा न तं वलञ्जेति। सब्बवारियुत्तो ति सब्बेन पापवारणेन युत्तो। सब्बवारिधुतो ति सब्बेन पापवारणेन धुतपापो। सब्बवारिफुटो ति सब्बेन पापवारणेन फुट्ठो। गतत्तो ति कोटिप्पत्तचित्तो। यतत्तो ति संयतचित्तो। ठितत्तो (दी.नि. 1.50) ति सुप्पतिट्ठितचित्तो। एतस्स वादे किंचि सासनानुलोमं पि अत्थि, असुद्धलद्धितायन सब्बा दिट्ठयेव जाता। -- सुमंगल विलासिनी अट्टकथा (पृ. 189) ऐसा कहने पर भन्ते। निगण्ठनाथपुत्त ने यह उत्तर दिया-- महाराज! निगण्ठ चार संवरों से संवृत्त रहता है। महाराज! निगण्ठ चार संवरों से कैसे संवृत रहता है? महाराज! 1. निगण्ठ जल के व्यवहार का वारण करता है (जिसमें जल के जीवन न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से धूतपाप होता है, 4. सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। महाराज निगण्ठ इस प्रकार चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रंथ गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।'

वस्तुतः यहां राहुल जी जिन्हें चातुर्याम संवर कह रहे हैं, वे चातुर्याम संवर होकर निर्ग्रंथ साधक चातुर्याम संवर का पालन किस प्रकार करता है उसके सम्बंध में मेरी दृष्टि में यहां 'कथं' का अर्थ कौन से न होकर किस प्रकार है चातुर्याम के रूप में जैनागमों में जिनका विवरण प्रस्तुत किया गया है वे निम्न हैं--

1. प्राणतिपात विरमण
2. मृषावाद् विरमण
3. अदत्तादान विरमण

4. बहिर्दादान विरमण (परिग्रह त्याग)

जैन आगम स्थानांग, समवायांग आदि में चार्तुयाम संवर का उल्लेख इसी रूप में मिलता है।

दीघनिकाय के इस अंश का जो अर्थ राहुलजी ने किया है वह भी त्रुटिपूर्ण है। प्रथमतः यहां वारि शब्द का अर्थ जल न होकर वारण करने योग्य अर्थात् पाप है। सूत्रकृतांग में वीरस्तुति में महावीर को 'वारिय सव्ववारं' (सूत्रकृतांग, 1/6/28) कहा गया है। यहां 'वार' शब्द 'पाप' के अर्थ में ही है, जल के अर्थ में नहीं है। पुनः जैन मुनि मात्र सचित्तजल (जीवनयुत्त जल) के उपयोग का त्याग करता है, सर्वजल का नहीं। अतः सुमंगलविलासिनी अट्टकथाकार एवं राहुलजी द्वारा यहां वारि या जल अर्थ करना अयुक्तिसंगत है। क्योंकि एक वाक्यांश में 'वारि' का अर्थ जल करना और दूसरे में उसी 'वारि' शब्द का अर्थ 'पाप' करना समीचीन नहीं है। चूंकि निर्ग्रंथ सचित्त (जीवन-युक्त) जल के त्यागी होते थे, स्नान नहीं करते वस्त्र नहीं धाते थे। अतः इन्हीं बातों को आधार मानकर यहां 'सव्ववारिवारितो' का अर्थ जल का त्याग करते हैं, यह मान लिया गया, किंतु स्वयं सुमंगल विलासिनी टीका या अट्टकथा में भी स्पष्ट उल्लेख हैं कि निर्ग्रंथ मात्र सचित्त जल का त्यागी होता है, सर्वजल का नहीं, अतः वारि का अर्थ जल करना उचित नहीं है। दीघनिकाय की अट्टकथा में 'वारि' का जो भ्रांत अर्थ जल किया गया था, राहुलजी का यह अनुवाद भी उसी पर आधारित है। अतः इस भ्रांत अर्थ करने के लिए राहुलजी उतने दोषी नहीं है, जितने सुमंगलविलासिनी के कर्त्ता। सम्भवतः निर्गंथों ने जलीय जीवों की हिंसा से बचने के लिए जल के उपयोग पर जो प्रतिबंध लगाए गए थे, उसी से अर्थ और टीका में यह भ्रांति हुई है। आगे इसी क्रम में उन्होंने स्वयं 'वारि' का अर्थ 'पाप' करके स ब्बवारियुत्तो का अर्थ वह सब पापों का वारण करता है, किया है। किंतु यह अर्थ मूपाठ के अनुरूप नहीं है, क्योंकि यहां वारि का अर्थ पाप करके भी युत्तो का अर्थ वारण करना-- किया गया है, वह समुचित नहीं है, क्योंकि पालीकोशों के अनुसार युत्तो शब्द का अर्थ किसी भी स्थिति में 'वारण' नहीं हो सकता है। कोश के अनुसार तो इस युत्त का अर्थ लिप्त होता है, अतः इस वाक्यांश का अर्थ होगा-- वह सर्व पापों से युक्त या लिप्त होता है-- जो निश्चय ही इस प्रसंग में गलत है। मेरी दृष्टि में यहां मूलपाठ में भ्रान्ति है-- सम्भवतः मूलपाठ 'युत्तो' न होकर 'यतो' होना चाहिए। क्योंकि मूलपाठ में आगे निर्ग्रंथ के लिए 'यतो' विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो 'यतो' पाठ की

पुष्टि करता है। यदि हम मूलपाठ 'युत्तो' ही मानते हैं उसे 'अयुत्तो' मानकर वारि+अयत्तो की संधि प्रक्रिया में 'अ' का लोप मानना होगा। प्राकृत व्याकरण और सम्भवतः पालि व्याकरण में भी स्वर-सन्धि के नियमों में दो स्वरों की सन्धि में विकल्प से एक स्वर का लोप माना जाता है। अतः मूल पाठ 'अयुत्तो' होना चाहिए, किंतु सुमंगलविलासिनी में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। (पठमोभागो, पृ.189) अपितु उसमें संधि तोड़कर 'युत्तो' पाठ ही है। किंतु यतो पाठ मानने पर इस अंश का अर्थ होगा, वह सब पापों के प्रति संयमवान या उनका नियंत्रण करने वाला होता है। अतः राहुलजी का यह अनुवाद भी मेरी दृष्टि में मूलपाठ से संगतिपूर्ण नहीं है, फिर भी उन्होंने वह सर्वपापों का वारण करता है, ऐसा जो अर्थ किया है, वह सत्य के निकट है। मूलपाठ भ्रांत और टीका के अस्पष्ट होते हुए भी, उन्होंने यह अर्थ किस आधार पर किया मैं नहीं जानता, सम्भवतः यह उनकी स्वप्रतिभा से ही प्रसूत हुआ होगा। फिर भी पालि के विद्वानों को इस समस्या पर विचार करना चाहिए। इसके आगे सब्बवारिधुतो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है-- संगतिपूर्ण है। किंतु आगे सब्बवारिफुटो का अर्थ-- वह सभी पापों से रहित होता है-- संगतिपूर्ण है। किंतु आगे सब्बवारिफुटो का अर्थ पुनः मूल से संगति नहीं रखता है। राहुलजी ने इसका अर्थ वह सभी पापों के वारण में लगा रहता है-- किस प्रकार किया मैं नहीं समझ पा रहा हूं। क्योंकि किसी भी स्थिति में 'फुटो' का अर्थ-वारण करने में लगा रहता है, नहीं होता है। पालि के विद्वान इस पर भी विचार करें। मूल के फुटो अथवा सुमंगलविलासिनी टीका के फुटो का संस्कृत रूप स्पृष्ट या स्पष्ट होगा। इस आधार पर इसका अर्थ होगा वह सब पापों से स्पृष्ट अर्थात् स्पर्शित या व्याप्त होता है, किंतु यह अर्थ भी संगतिपूर्ण नहीं लगता है-- निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र स्वयं अपने निर्ग्रंथों को सब पापों से स्पर्शित तो नहीं कह सकते हैं। यहां भी राहुल जी ने अर्थ को संगतिपूर्ण बनाने का प्रयास तो किया, किंतु वह मूलपाठ के साथ संगति नहीं रखता है। पालि अंग्रेजी कोश में राइसडेविड्स ने भी इन दोनों शब्दों के अर्थ निश्चय में कठिनाई का अनुभव किया है। मेरी दृष्टि में यहां भी या तो मूलपाठ में कोई भ्रांति है या पालि व्याकरण के स्वर संधि के नियम से 'अफुटो' के 'अ' का लोप हो गया है। मेरी दृष्टि में मूलपाठ होना चाहिए-- सब्बवारिअफुटो, तभी इसका अर्थ होगा वह सर्व पापों से अस्पर्शित होता है। यहां भी राहुलजी अर्थ की संगति बैठाने का जो प्रयास किया है वह उचित तो है। किंतु मूल पाठ एवं अट्टकथा (टीका) के सम्बंध में उनकी ओर कोई टिप्पणी नहीं होना पाठक के लिए एक समस्या बन जाती है। मेरी दृष्टि में दीघनिकाय

के उस समग्र अंश का पाठ शुद्धि के पश्चात् वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिए-- 'हे महाराज, निर्ग्रंथ चातुर्याम संवर से संवृत होता है, वह चार्तुयाम संवर से किस प्रकार संवृत होता है? हे महाराज! निर्ग्रंथ सब पापों का वारण करता है। वह सर्वपापों के प्रति संयत या उनका नियंत्रण करने वाला होता है। वह सभी पापों से रहित (धूत) और सभी पापों से अस्पर्शित होता है।

इसी प्रसंग में आदरणीय राहुलजी ने महावीर को सर्वज्ञातावादी कहा है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ.494) यंह सत्य है कि महावीर को प्राचीनकाल से ही 'सर्वज्ञ' कहा जाता था। सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नाम छठे अध्याय में उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ (सवन्नू) कहा गया है-- किंतु प्राचीनकाल में जैन परम्परा सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ ही होता था। आचारांग के-- जे एगं जाणई ते सव्वं जाणई' एवं भगवती के 'केवलि सिय जाणइ सिय ण जाणइ' -- पाठ से तथा कुन्दकुन्द के इस कथन से 'केवलि निश्चय नय से केवल आत्मा को जानता है' -- इसी तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वज्ञ का यह अर्थ है कि वह सर्वद्रव्यों एवं पर्यायों का त्रिकाल ज्ञाता होता है, परवर्तीकाल में निर्धारित हुआ। आगे चलकर सर्वज्ञ का यही अर्थ रुढ़ हो गया और सर्वज्ञ के इसी व्युत्पत्तिपरक अर्थ को मानकर बौद्ध त्रिपिटक में उनकी सर्वज्ञता की निंदा भी की गई। 'सर्वज्ञ' या 'केवलि' शब्द के प्राचीन पारिभाषिक एवं लाक्षणिक अर्थ के स्थान पर इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर बल देने से ही यह भ्रांति उत्पन्न हुई है। किंतु यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना बुद्ध और महावीर दोनों के साथ घटित हुई, जो बुद्ध सर्वज्ञतावाद के आलोचक रहे, उन्हें भी परवर्ती बौद्ध साहित्य में उसी अर्थ में सर्वज्ञ मान लिया गया है, जिस अर्थ में परवर्ती जैन परम्परा में तीर्थंकरों को और न्याय परम्परा में ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है। वास्तविक रूप में प्राचीनकाल में महावीर को उस अर्थ में सर्वज्ञ नहीं कहा जाता था, जिस अर्थ में पालित्रिपिटक व परवर्ती जैन साहित्य में उन्हें सर्वज्ञ कहा गया है। दुर्भाग्य से राहुल जी ने भी सर्वज्ञ का यही परवर्ती अर्थ ले लिया है। जबकि सर्वज्ञ का प्राचीन अर्थ तो जैन परम्परा में आत्मज्ञ और बौद्ध परम्परा में हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञाता ही रहा है।

राहुल जी का यह कथन भी किसी सीमा तक सत्य है कि जैनधर्म में प्रारम्भ से ही शारीरिक कार्यों को प्रधानता पर शारीरिक तपस्या पर बल दिया गया है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 495-496)। किंतु उनकी इस धारणा पर आधार भी बौद्धत्रिपिटक साहित्य में महावीर के जीवन और दर्शन का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण हुआ है वही है-- यहां भी

उन्होंने जैन आगमों को देखने का प्रयास नहीं किया है। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन भी बौद्धों के समान ही मानसकर्म को ही प्रधान मानता है, फिर भी इतना अवश्य सत्य है कि कायिककर्म या कायिकसाधना को मानसिककर्म की अनिवार्य फलश्रुति मानता है वह कहता है कि जो विचार में होता है वही आचार में होता है। विचार (मानसकर्म) और आचार (कायिककर्म) का द्वैत उसे मान्य नहीं है। विचार से कुछ और आचार में कुछ, इसे जैनधर्म आत्म पयंचना मानता है, मन से सत्य को समझते हुए अन्यथा रूप में आचरण करना पाप है। मन में अहिंसा और करुणा तथा व्यवहार में क्रूरता या हिंसा का छलना ही है।

राहुलजी की यह टिप्पणी भी सत्य है कि महावीर ने स्वयं अपने जीवन में और जैनसाधना में शारीरिक तपों को आवश्य माना है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि महावीर मात्र देह-दण्डन या आत्म-पीड़न के समर्थक थे। उन्होंने उत्तराध्ययन में तप के बाह्य और आभ्यान्तर ऐसे दो पक्ष माने थे और दोनों पर ही समान बल दिया था। स्वाध्याय, सेवा और ध्यान भी उनकी दृष्टि में तप के ही महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः राहुलजी का महावीर को मात्र शारीरिक पक्ष पर बल देने वाला और आभ्यान्तर पक्ष की अवहेलना कर लेने वाला, मानना-समुचित नहीं है।

अनेकान्तवादी जैनदर्शन के सम्बंध में उनकी यह टिप्पणी है कि अनेकान्त और स्याद्वाद का विकास संजय वेलट्ठीपुत्त के विक्षेपवाद से हुआ, भी पूर्णतः सत्य नहीं है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 595)। वस्तुतः संजय के विक्षेपवाद का बौद्धों के विभज्यवाद एवं शून्यवाद का और जैनों के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का विकास औपनिषदिक चतुष्कोटियों और विभज्यवादी दृष्टिकोण से हुआ है।

दर्शन-दिग्दर्शन (पृ. 597) में एक स्थल पर उन्होंने जैनधर्म के जिन पांच तत्त्वों का उल्लेख किया वह भी भ्रांत है-- उन्होंने जिन पांच तत्त्वों का उल्लेख किया है वे हैं-- जीव, अजीव, धर्म, आकाश और पुद्गल। इसमें अजीव को निरर्थक रूप से जोड़ा है और 'अधर्म' को छोड़ दिया है, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सभी अजीव ही माने गए हैं।

जैनधर्म के सम्बंध में राहुलजी की यह टिप्पणी कि उनकी पृथ्वी, जल, आदि के जीवों की अहिंसा के विचार ने जैनधर्म की अनुयायियों को कृषि के विमुख कर वणिक बना दिया। वे उत्पादक श्रम से हटकर परोपजीवी हो गए। उनका यह मन्तव्य भी किसी

सीमा तक उचित तो है-- किंतु पूर्णतः सत्य नहीं है। आज भी बुन्देलखण्ड, मेवाड़, महाराष्ट्र और कर्नाटक में जैनजातियां कृषि पर आधारित हैं और उन्हें कृषिकर्म करते हुए देखा जा सकता है। प्राचीन आगम भगवतीसूत्र में इस प्रश्न पर कि कृषिकर्म में कृमि आदि की हिंसा की जो घटना घटित हो जाती है, उसके लिए गृहस्थ उत्तरदायी है या नहीं, गंभीर रूप से विचार हुआ है। उसमें यह माना गया है कि कोई भी गृहस्थ की जाने वाली हिंसा का उत्तरदायी होता है, हो जाने वाली हिंसा का नहीं। कृषि करते हुए जो प्राणीहिंसा हो जाती है, उसके लिए गृहस्थ उत्तरदायी नहीं है। इसी प्रकार जैनों का अहिंसा का सिद्धांत व्यक्ति को कायर या भगोड़ा नहीं बनाता है। वह गृहस्थ के लिए आक्रामक हिंसा का निषेध करता है, सुरक्षात्मक हिंसा (विरोधी-हिंसा) का नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म के सम्बंध में राहुलजी के मन्तव्य आंशिक सत्य होकर भी अपूर्ण या एकांगी है। क्योंकि उन्होंने इस सम्बंध में जैन स्रोतों की खोज-बीन का प्रयत्न नहीं किया है।

जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या

किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण करने या उसे पारिभाषित करने में अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। क्योंकि शब्दों के वाच्यार्थ बदलते रहते हैं। साथ ही उनमें अर्थ संकोच और अर्थ विस्तार भी होता है। यह कठिनाई तब और अधिक समस्याप्रद बन जाती है, जब एक ही परम्परा में कालक्रम में शब्द का अर्थ बदल जाता है। कुछ शब्द कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को खोजकर नए अर्थ को ग्रहण करते हैं तो कुछ शब्द एक परम्परा से आकर दूसरी परम्परा में मूल अर्थ से भिन्न किसी अर्थ में रुढ़ हो जाता है। आसव शब्द जैन और बौद्ध परम्परा में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, किंतु उसके अर्थ भिन्न हो गए हैं। जैन और बौद्ध परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्दों के साथ स्थिति रही है। कुछ शब्द अन्य परम्परा से जैन परम्परा में आए, किंतु यहां आकर उनका अर्थ बदल गया। पुनः कुछ शब्द जैन एवं बौद्ध परम्परा में भी कालक्रम में अपने पुराने अर्थ कों

छोड़कर नए-नए अर्थ को ग्रहण करते रहे हैं। प्रस्तुत निबंध में हम इन्हीं दो कठिनाइयों के संदर्भ में जैन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द के अर्थ-निर्धारण की समस्या से जैनाचार्य प्राचीन काल से ही परिचित थे, अतः उन्होंने सर्वप्रथम निक्षेप और नय के सिद्धांतों का विकास किया, ताकि संदर्भ और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण किया जा सके। शब्द के अर्थ निर्धारण में उसके संदर्भ का विचार करना यह निक्षेप का कार्य है और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर वाक्य का अर्थ समझना यह नय का कार्य माना गया। निक्षेप शब्द के अर्थ का निश्चय करता है और नय वाक्य के अर्थ का निश्चय करता है।

शब्दों के अर्थ-निर्धारण एवं उनको पारिभाषित करने में एक समस्या यह भी होती है कि ग्रंथ किसी अन्य देश एवं काल की रचना होता है और उसके व्याख्याकार या टीकाकार किसी अन्य देश और काल के व्यक्ति होते हैं। इसलिए कभी-कभी उनके द्वारा की गई शब्द की परिभाषाएं अपने मूल अर्थ से भिन्न होती हैं और कभी-कभी भ्रांत भी। जैन परम्परा में कई शब्दों के टीकाकारों के द्वारा किए गए अर्थ अपने मूल अर्थ से भिन्न हैं और कभी-कभी तो ग्रंथ के हार्द को भी समझने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। यह समस्या भी विशेष रूप से उन ग्रंथों के संदर्भ में है जो पर्याप्त प्राचीन हैं। ऐसे ग्रंथों में हम आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और कुछ छेदसूत्रों को ले सकते हैं। यहां हम इनके सभी शब्दों के संदर्भ में तो विचार नहीं कर सकेंगे, किंतु कुछ प्रतिनिधि पारिभाषिक शब्दों को लेकर उनके अर्थ-निर्धारण की समस्या पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम अरिहंत या अरहंत शब्द को ही लें। प्राचीनकाल में वह शब्द जैन परम्परा का विशिष्ट शब्द न होकर भारतीय परम्परा का एक सामान्य शब्द था। अपने मूल अर्थ में यह शब्द पूजा-योग्य अर्थात् पूजनीय या 'सम्माननीय' अर्थ का वाचक था और उसके बाद यह शब्द वासनाओं से मुक्त एवं राग-द्वेष के विजेता वितराग व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाने लगा, क्योंकि वह सम्माननीय या पूज्यनीय होता था। प्राचीन जैन एवं बौद्धग्रंथों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ, किंतु जब जैन परम्परा में कर्म-सिद्धांत का विकास हुआ तो इस शब्द को पुनः एक नया अर्थ मिला और यह कहा गया कि जो व्यक्ति चारघाती कर्मों को अर्थात् ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को क्षय कर लेता है, वह 'अर्हत्' है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय करने के कारण 'अरहन्त'

को सर्वज्ञ या पर्यायवाची माना गया। इस प्रकार 'अरहन्त' शब्द ने जैन परम्परा में एक अपना विशेष अर्थ प्राप्त किया। कालान्तर में अरिहन्त के (अरि+हंत) रूप से यह राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को मारने वाला और अरहंत के रूप में जो संसार में पुनः जन्म नहीं लेने वाला माना गया, वह व्याख्या जैन और बौद्ध दोनों में है। अतः आगे चलकर यह अर्थ भी स्थिर नहीं रह सका और जैन परम्परा में अरहंत शब्द केवल तीर्थंकरों का पर्यायवाची बन गया। यदि हम 'सव्वणु' (सर्वज्ञ) और केवली शब्द का इतिहास देखें तो इनके भी अर्थ में कालान्तर में विकास देखा जाता है। प्राचीन स्तर के जैन आगमों जैसे-- सूत्रकृतांग, भगवती आदि में सर्वज्ञ शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं था जो उसे बाद में मिला। तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य-साहित्य में तथा अन्य ग्रंथों में 'सर्वज्ञ' और 'केवली' शब्द सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान के वाचक माने गए हैं, किंतु सूत्रकृतांग एवं भगवती में सर्वज्ञ और केवली शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वहां 'सर्वज्ञ' शब्द का अर्थ आत्मज्ञ, आत्मद्रष्टा, आत्मसाक्षी और अधिक से अधिक जीवन और जगत् के सम्यक् स्वरूप का ज्ञाता ही था, इसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी प्रारम्भ में सर्वज्ञ का तात्पर्य हेय और उपादेय का विवेक था। दूसरे शब्दों में उस काल तक सर्वज्ञ शब्द आत्मज्ञान एवं दार्शनिक ज्ञान का ही पर्यायवाची था, अन्यथा भगवती में केवली 'सिय जाणइ सिय ण जाणइ' ऐसा उल्लेख नहीं होता। इस सम्बंध में पंडित सुखलालजी ने पर्याप्त विचार किया है। सर्वज्ञ का पर्यायवाची 'केवली' शब्द भी अपने प्राचीन अर्थ को खोकर नवीन अर्थ में सर्वज्ञाताद्रष्टा अर्थात् सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान का वाचक बन गया, वहां यह भी स्मरण रखना होगा कि केवली शब्द प्राचीन सांख्य परम्परा में जैन परम्परा में आया और वहां वह आत्मद्रष्टा के अर्थ में या प्रकृति-पुरुष के विवेक का ही वाचक था। यही कारण था कि कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा, कि वस्तुतः केवली आत्मा को जानता है, वह लोकालोक को जानता है यह व्यवहार नय या व्यवहार दृष्टि है। पाली त्रिपिटक में सर्वज्ञ का जो मखौल उड़ाया गया है, वह उसके दूसरे अर्थ को लेकर है। यही स्थिति 'बुद्ध', 'जिन' और 'वीर' शब्दों की है। एक समय तक ये जैन, बौद्ध एवं अन्य श्रमण परम्पराओं के सामान्य शब्द थे। प्रारम्भ में इनका अर्थ क्रमशः इन्द्रियविजेता, प्रज्ञावान और कष्टसहिष्णुसाधक था किंतु आगे चलकर जहां जैन परम्परा में 'जिन' शब्द और बौद्ध परम्परा में 'बुद्ध' शब्द विशिष्ट अर्थ के वाचक बन गए, जैन परम्परा में 'जिन' शब्द को मात्र तीर्थंकर का पर्यायवाची और बौद्ध परम्परा में बुद्ध को धर्मचक्र प्रवर्त्तक बुद्ध का

वाचक माना गया। 'वीर' शब्द जहां आचारांग में कष्ट-सहिष्णु साधक या संयमी मुनि का पर्यायवाची था, वही आगे चलकर महावीर का पर्यायवाची मान लिया गया। यही स्थिति 'तथागत' शब्द की है। आचारांग में 'तथागत' शब्द मुख्य रूप से प्रज्ञावान मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ किंतु कालांतर में जैन परम्परा से यह शब्द लुप्त हो गया और बौद्ध परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया और वहां उसे भगवान बुद्ध का पर्यायवाची मान लिया गया।

इसी प्रकार यदि 'दंसण' (दर्शन) शब्द को लें तो उसके अर्थ में भी स्वयं जैन परम्परा में ही अर्थ परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन जैनागम आचारांग में यह शब्द द्रष्टाभाव या साक्षीभाव के अर्थ में 'प्रयुक्त' हुआ, जबकि जैन-ज्ञान मीमांसा में यह शब्द ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदनो के रूप में प्रयोग किया गया। आगमों में 'जाणई' और 'पासाई' ऐसे दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहां 'पास' या 'पासइ' शब्द का अर्थ देखना था और वह दंसण का पर्यायवाची था। प्राचीनस्तर के ग्रंथों में दर्शन या देखने का तात्पर्य जागतिक घटनाओं को समभावपूर्वक देखने से रहा जैसे 'एस पासगस्स दंसणं, एस कुसल स्स दंसण' किंतु आगे चलकर यह शब्द जब जिण-दंसण आदि विशेषणों के साथ प्रयुक्त हुआ तो वह 'दर्शन' (फिलासफी) का पर्यायवाची बन गया और उस अर्थ में उसे दृष्टि कहा गया और उसी से सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि शब्द निष्पन्न हुए। पुनः आगे चलकर जैनागमों में ही दंसण शब्द श्रद्धान का पर्यायवाची हो गया। आचारांग में 'दंसण' शब्द साक्षीभाव के अर्थ में एवं सूत्रकृतांग में दर्शन (फिलासफी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। किंतु उत्तराध्ययन में 'णाणेन जाणाई भावे दंसणेण सद्दहे' कहकर दर्शन को श्रद्धान का पर्यायवाची बना दिया गया। जैनकर्म सिद्धांत में ही दर्शन-मोह और दर्शनावरण इन दोनों शब्दों में प्रयुक्त दर्शन शब्द दो भिन्न अर्थों का वाचक बन गया है। 'दर्शनावरण' में रहे हुए 'दर्शन' शब्द का तात्पर्य जहां ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदन है वहां 'दर्शन मोह' में 'दर्शन' शब्द का अर्थ दार्शनिक दृष्टिकोण या दर्शन (फिलासफी) है। सम्प्रदाय भेद से भी जैन परम्परा में शब्दों के अर्थ में भिन्नता आई है। उदाहरण के रूप में 'अचेल' शब्द का अर्थ जहां श्वेताम्बरों में अल्प-चेल किया तो दिगम्बरों में वस्त्र का अभाव ऐसा किया है।

इसी प्रकार 'पुद्गल' शब्द को लें। 'पुद्गल' शब्द भगवतीसूत्र में व्यक्ति (इण्डीविजूअल) अथवा व्यक्ति के शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किंतु इसके साथ ही साथ उसी ग्रंथ में 'पुद्गल' शब्द भौतिक-पदार्थ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। पुद्गलास्तिकाय में प्रयुक्त पुद्गल शब्द जहां भौतिक द्रव्य (मैटर) का सूचक है, वहीं

भगवती में यह शब्द व्यक्ति एवं शरीर का तथा दशवैकालिक में 'मांस' का वाचक रहा है। आज जैनसाधुओं की भाषा (कोड-लैंग्वेज) में यह शब्द 'धन' या 'मुद्रा' का पर्यायवाची है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल का अर्थ व्यक्ति/शरीर हुआ है। 'आत्मा' शब्द जिसके लिए प्राकृत भाषा में 'आता', 'अत्ता', 'अप्पा', 'आदा' और 'आयां' रूप में प्रयुक्त होता है, किंतु यह शब्द भी मात्र आत्मा का वाचक नहीं रहा है। भगवतीसूत्र में यह अपनेपन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और कभी यह 'स्वधर्म' या 'स्वगुणों' का भी प्रतीक माना गया है। भगवतीसूत्र में जब यह पूछा गया कि क्या प्रथम पृथ्वी आत्मा है? तो वहां इसका अर्थ स्वधर्म, स्वगुण है। इसी प्रकार जैन आगमों में 'अप्पाणंवेवासरामि' में 'अप्पा' शब्द अपनेपन का सूचक है। बौद्ध परम्परा में 'अनत्त' (आत्मा) शब्द का प्रयोग 'अपना नहीं' इसी अर्थ में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहां बौद्ध परम्परा में भी 'अनत्त' (अनात्म) शब्द का प्रयोग अपना नहीं है इसी में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहां बौद्धग्रंथों के 'अत्त' शब्द अपनेपन या मेरेपन का वाचक ही रहा है। वहीं जैन परम्परा में यह चेतना सत्ता का वाचक माना गया। जैन परम्परा में सामान्यतया जीव और आत्मा पर्यायवाची रहें, किंतु उन्हें पृथक्-पृथक् अर्थ का वाचक माना गया। उपनिषदों में 'आत्मन्' शब्द 'ब्रह्म' या परम् सत्ता का वाचक भी रहा है।

इसी प्रकार 'धर्म' शब्द को ही लें, उसे जैन परम्परा में नेक प्रकार से पारिभाषित किया गया। जहां 'वत्थुसहावोधम्मो' में धर्म को वस्तु का स्वरूप या स्वभाव कहा गया वहीं 'सेमियाए आरिए धम्मे पव्वइए' में 'धर्म' शब्द समभाव का सूचक माना गया, किंतु यही शब्द जब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में प्रयुक्त हुआ तो वहां इसका अर्थ बिलकुल ही बदल गया और वह गति-सहायक द्रव्य के रूप में व्यावख्यायित किया गया। ये तो हमने कुछ शब्दों के उदाहरण दिए, किंतु ऐसे अन्य कई शब्द हैं जो कालक्रम में अपना नया-नया अर्थ ग्रहण करते गए और एक ही परम्परा में कालक्रम में वे भिन्न-भिन्न अर्थों में रुढ़ होते चले गए। जैनागमों में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो अन्य परम्पराओं से उनके मूल अर्थ में ही ग्रहीत हुए थे किंतु बाद में उनका मूल अर्थ टीकाकारों के समक्ष नहीं रहा और उन्हें भिन्न अर्थ में ही व्याख्यायित किया गया। उदाहरण के रूप में 'आचारांग' में प्रयुक्त 'विपास्सी' और 'विपस्सना' शब्द बौद्ध परम्परा के ज्ञान के अभाव में टीकाकारों के द्वारा अन्य अर्थ में पारिभाषित किए गए। कुछ शब्दों का अर्थ तो इसलिए दुर्बोध हो गया कि जिस क्षेत्र का वह शब्द था उस क्षेत्र के सम्बंध में टीकाकारों

के अज्ञान के कारण वह अन्य अर्थ में ही पारिभाषित किया गया, दाहरण के रूप में 'तालपलम्ब' (ताड़प्रलम्ब) शब्द जो निशीथ में प्रयुक्त हुआ है वह अपने मूल अर्थ में अंकुरित ताड़बीज का सूचक था, किंतु जब जैन मुनिसंघ राजस्थान और गुजरात जैसे क्षेत्र में चला गया तो वह उसके अर्थ से अनभिज्ञ हो गया और आज जैन परम्परा में तालपलम्ब केले (कदलीफल) का वाचक हो गया है। इस प्रकार जैनागमों में प्रयुक्त अनेक शब्द टीकाकारों के काल तक भी अपना अर्थ खो चुके थे और टीकाकारों ने उन्हें अपने ढंग से और अपनी परम्परा के अनुसार पारिभाषित करने का प्रयास किया। वस्तुतः जो ग्रंथ जिस-जिस देश और काल में निर्मित होता है उसके शब्दों के अर्थों को उस देश और काल की परम्परा और अन्य ग्रंथों के आधार पर पारिभाषित किया जाना चाहिए। उस देशकाल के ज्ञान के अभाव में अनेक शब्दों को टीकाकारों ने अपनी कल्पना के अनुसार पारिभाषित कर दिया है। उससे बचना आवश्यक है। आचारांग में 'संधि' शब्द आसक्ति या रागात्मकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था किंतु टीकाकार भी अनेक स्थलों पर उसे अवसर के रूप में पारिभाषित करते हैं। 'आसव' शब्द जैन और बौद्ध परम्पराओं में किन-किन अर्थों से गुजरा है, इसकी चर्चा 'एलेक्सवेमेन' ने की है। मोक्ख (मोक्ष) और 'निव्वाण' (निर्वाण) शब्द सामान्यतया जैन परम्परा में पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं। किंतु उत्तराध्ययन में ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न स्थितियों के वाचक हैं। यहां कहा गया कि आसक्त का निर्वाण नहीं (अमोक्खस्स नत्थि निव्वाणं)।

इसलिए प्राचीन प्राकृत और पालि साहित्य के अनुवाद और उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का निर्धारण एक कठिन और श्रमसाध्य कार्य है जो विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है, जो शब्द किसी काल में पर्यायवाची रूप में या भाषा सौष्ठव के लिए प्रयुक्त होते थे, व्युत्पत्ति और प्रतिभा के आधार पर उन्हें भिन्न भिन्न अर्थ का वाचक बना दिया हैं पालिसाहित्य में निगण्ठ-नाटपुत्त के संदर्भ में 'सव्ववारिवारितो' शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुवादकों ने 'वारि' का अर्थ जल किया, जबकि सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक अध्ययन के आधार पर देखें तो उसमें प्रयुक्त वारि शब्द का अर्थ जल न होकर पाप होगा, क्योंकि सूत्रकृतांग में महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है-- 'से वारिया सव्व वारं इत्थीसरायभत्तं' अर्थात् उन्होंने लोगों को सभी पाप कर्मों, स्त्री और रात्रिभोजन से निवृत्त किया।

यहां मैं इस बात पर विशेष रूप से बल देना चाहूंगा कि जहां जैन आगमों के

पारिभाषित शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिए बौद्ध पिटक का अध्ययन आवश्यक है वहीं बौद्ध पिटक साहित्य के शब्दों के अर्थ निर्धारण के लिए जैन आगमों का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये दोनों परम्पराएं एक ही देश और काल की उपज हैं। बिना बौद्ध साहित्य के अध्ययन के आचारांग जैसे प्राचीनस्तर के ग्रंथ में प्रयुक्त 'विपस्सि, तथागत, पडिसंखा, आयतन, संधि आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकते उसी प्रकार पिटक साहित्य में प्रयुक्त 'वारि' जैसे अनेक शब्दों का अर्थ बिना जैन आगमों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं हो सकता। हमें यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी परम्परा शून्य में उत्पन्न नहीं होती उसका एक देश और काल होता है जहां से वह अपनी शब्दावली ग्रहण करती है। यह ठीक है कि अनेक बार उस शब्दावली को नया अर्थ दिया जाता है फिर भी शब्द के मूल अर्थ को पकड़ने के लिए हमें उसे देश, काल व परम्परा का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा, जिसमें उसका साहित्य निर्मित हुआ है। अतः पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया में न तो उस देश व काल की उपेक्षा की जा सकती है, जिसमें उन शब्दों ने अपना अर्थ प्राप्त किया है और न समकालीन परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन के बिना ही अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया को सम्पन्न किया जा सकता है।

परमसुख की साधना : विपश्यना

समग्र भारतीय साधनाओं का मुख्य लक्ष्य चेतना की निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करना है। योगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि योग साधना का लक्ष्य चित्तवृत्तिका निरोध है। श्रमण परम्परा की साधना में चित्त की निर्विकल्प दिशा को ही निर्वाण के रूप में परिभाषित किया गया है। उसमें माना गया है कि तृष्णा विकल्प जन्य है। विकल्पों के निरोध के बिना तृष्णा का उच्छेद सम्भव नहीं है। उसी प्रकार जैन परम्परा में भी यह कहा गया है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का उच्छेद ही साधना का लक्ष्य है। जिसे उसकी पाम्परिक भाषा में 'योग-निरोध' कहा गया है, यह रोग निरोध भी चित्तवृत्ति की निर्विकल्पता ही है। इसे समता या वीतरागता के रूप में भी माना गया है।

फिर भी यह विचारणीय प्रश्न है कि निर्विकल्पता से हमारा क्या तात्पर्य है? परमसुख विपश्यना नामक प्रस्तुत पुस्तक में कन्हैयालालजी लोढ़ा ने निर्विकल्पता को दो

प्रकार की बताया है- (1) निर्विकल्प-स्थिति और (2) निर्विकल्प-बोध। निर्विकल्प स्थिति भी दो प्रकार की है- एक तो जड़ता रूप निर्विकल्प स्थिति जैसे प्रगाढ़-निद्रा, मूर्छा, बेहोशी आदि, इसका साधना में कोई स्थान नहीं है। यह एक अचेतन दशा है, जैन दर्शन के अनुसार यह निर्विकल्प-स्थिति सभी असंज्ञी (विवेक-क्षमता से रहित), अविकसित, पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि और वानस्पतिकायिक जीवों में भी पाई जाती है। गहननिद्रा में भी जीव निर्विकल्पस्थिति वाला होता है। आधुनिक मनोविज्ञान में यह अचेतन मन (uniconcious mind) की दशा है। दूसरी चिन्मयतारूप निर्विकल्प स्थिति है, किसी अभ्यास से आई निर्विकल्प (समाधिस्थ) होने से साधक को 'मैं आनन्दित हूं' यह अनुभव होता है तथा इसमें अहंभाव बना रहता है। इसे पातंजलयोग में सम्प्रज्ञात समाधि कहा है। अन्य दृष्टि में यह उपशम की स्थिति है। इसमें वासना (विकार) के संस्कारों का उदय नहीं होता किंतु सुप्त (सत्ता) अवस्था में अवचेतन मन (अंतःकरण) में रहते हैं। जो कुछ काल के पश्चात् विकल्प रूप में उदय हो जाते हैं। जब यह समाधिस्थ निर्विकल्प स्थिति सहज एवं स्वाभाविक हो जाती है, उसके लिए किसी अभ्यास एवं प्रयत्न नहीं करना होता तथा चित्त अहं शून्य हो जाता है, जिसे बौद्ध दर्शन ने धर्ममेघ पारमिता तथा पातंजलयोग एवं जैनाचार्य हरिभद्र ने धर्ममेघसमाधि कहा है। तब निर्विकल्पबोध होता है एवं साधक निर्वाण का अधिकारी होता है। निर्विकल्प बोध तो केवल विवेकशील और आत्म सजग मानव में ही सम्भव हैं। इसलिए ध्यान या विपश्यना की साधना भी उसी के द्वारा संभव है और वही निर्वाण का अधिकारी होता है। निर्वाण या मोक्ष निर्विकल्प स्थिति नहीं, निर्विकल्प बोध है। साधना की दृष्टि से निर्विकल्प स्थिति में विकार नहीं, निर्विकल्प बोध है। साधना की दृष्टि से निर्विकल्प स्थिति में विकार दबता है, मिटता नहीं है। इसी बात को जैन-परम्परा में उपशम-श्रेणी कहा गया है। निर्विकल्प बोध वस्तुतः आत्मसजगता या अप्रमत्तता की स्थिति है। इसमें चेतना लुप्त नहीं होती, अपितु सजग बनी रहती है। निर्विकल्प-स्थिति सदैव नहीं रहती, वह नियमतः अल्पकालिक ही है, किंतु निर्विकल्प बोध में समस्त कर्म-संस्कार (विकार) क्षय हो जाते हैं। इसे जैन दर्शन में क्षपकश्रेणी कहा है। इससे कैवल्य की उपलब्धि होती है, जो सदा बनी रहती है। निर्विकल्प स्थिति सदैव नहीं रहती वह नियमतः होती तो अल्पकालिक ही है, किंतु निर्विकल्प-बोध तो दीर्घकालीन भी हो सकता है। आध्यात्मिक विकास निर्विकल्प स्थिति से नहीं, निर्विकल्प बोध से होता है।

यह निर्विकल्प बोध कैसे उपलब्ध हो? यही समग्र भारतीय साधना-पद्धतियों का लक्ष्य रहा है और इसकी उपलब्धि के लिए विभिन्न प्रकार की ध्यान-साधना पद्धतियों का विकास हुआ है। कालांतर में अनेक ध्यान-साधना पद्धतियां निर्विकल्प बोध की दिशा में अग्रसर तो हुई, किंतु उनके द्वारा निर्विकल्प बोध की उपलब्धि तो दूर ही रही और वे निर्विकल्प स्थिति तक ही सिमट कर रह गई। तंत्र, हठयोग और आधुनिक युग के रजनीश आदि की साधनाएं भी निर्विकल्प स्थिति तक आकर ही रुक गई। वस्तुतः जब ध्यान साधना के नाम पर चित्त को किसी एक ध्यातव्य या साध्य से बांध दिया जाता है, तो फिर निर्विकल्प-बोध सम्भव नहीं हो पाता है, जैन और बौद्ध परम्परा में यह माना गया है कि मोक्ष या निर्वाण की चाह भी मोक्ष या निर्वाण के मार्ग में बाधक है, जैसे कोई पशु अधिक भागदौड़ करता है तो उसे नियंत्रित करने के लिए उसे किसी खूंटे से बांध दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि विवशता की स्थितिमें उसकी चंचल प्रवृत्ति तो रुक जाती है, लेकिन उसका चंचलता का स्वभाव नहीं जाता। यही स्थिति हमारे मन या चेतना की भी है इसमें मन या चित्त जीवित रहता है, निरुद्ध या रूपान्तरित नहीं होता है। विभिन्न साधना-पद्धतियों में मन की चंचलता को समाप्त करने के लिए मंत्रजप, नामजप आदि को स्थान तो दिया किंतु वे मन की चंचल प्रवृत्ति पर नियंत्रण पाने में सफल नहीं हो पाए। कुछ स मय के लिए विचार केंद्रित तो हुए, किंतु स्थाई निर्विकल्प-बोध जैसी अवस्था उपलब्ध न हो पाई।

प्राचीनकाल में ऐसी कुछ साधना-पद्धतियों का भी विकास हुआ था जो निर्विकल्प-स्थिति के स्थान पर निर्विकल्प-बोध की बात करती थी। ऐसी साधना-पद्धतियों में एक ओर 'औपनिषदिक ऋषि' - परम्परा सामने आई और उसने साक्षीभाव की साधना का विकास किया। इस साधना में करना कुछ भी नहीं होता है। यहां तक की अपने विकारों, विचारों और विकल्पों के प्रति भी दृष्टाभाव होता है। साधक सहज रूप से मात्र ज्ञाता-दृष्टा बन जाता है। साक्षीभाव की इसी साधना को आगे चलकर सहज-समाधि की साधना का भी नाम दिया गया। इसी क्रम में दूसरी ओर जैन धर्म और बौद्ध धर्म में विपश्यना और प्रेक्षा की साधना पद्धतियों का विकास हुआ।

बौद्ध और जैन इन दोनों धारणाओं में क्रमशः विपश्यना और प्रेक्षा की साधना पद्धतियां प्राचीनकाल में भी रही थी, आचारांग जैसे प्राचीनतम जैन आगम में तो विपश्यना और प्रेक्षा इन दोनों शब्दों के उल्लेख हैं। उसमें मात्र कमी यह है कि वह उसकी प्रक्रिया

का उल्लेख नहीं करता है। आचारांग में त्राटक के भी उल्लेख हैं। प्राचीनस्तर के जैन आगमों में तथा बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के कुछ ग्रंथों में इसके भी संकेत मिलते हैं, जो इसकी प्राचीनता के प्रमाण हैं। किंतु साधना की यह पद्धति गुरु-शिष्य परम्परा से ही चलती रही। क्योंकि इस साधना में करना कुछ भी नहीं होता है, मात्र दृष्टा बन करके देखना होता है। इसीलिए इस साधना पद्धति की प्रक्रिया के विवरणात्मक ग्रंथों का अभाव ही रहा, किंतु गुरु-शिष्य परम्परा से ही यह पद्धति जीवित रही।

आज यह कहना तो कठिन है कि विपश्यना या प्रेक्षा की यह साधना पद्धति कब अस्तित्व में आई। बुद्ध और महावीर ध्यान करते थे, किंतु वे किसका ध्यान करते थे, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में मात्र यह उल्लेख मिलता है कि भगवान बुद्ध ने प्रारंभिक अवस्था में रामपुत्त से ध्यान साधना सीखी थी। अतः साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर हम केवल यही कह सकते हैं, कि रामपुत्त की यह साक्षीभाव की साधना कालक्रम में बौद्ध परम्परा में विपश्यना के रूप में और जैन परम्परा में प्रेक्षा के रूप में अस्तित्व में आई। ऐसा उल्लेख मिलता है कि भगवान बुद्ध ने रामपुत्त से इस साधना को सीखकर उसे बौद्ध परम्परा में जीवित रखा था। यद्यपि त्रिपिटक साहित्य में इस साधना के विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होते हैं, किंतु भारत से बाहर कर्मा (ब्रह्मदेश) में यह साधना जीवित रही और पूज्य श्री सत्यनारायणजी गोयनका वहां से इसे पुनः भारत लाए।

इस साधना के प्रवर्त्तक कौन थे? यह बताना तो कठिन है, किंतु रामपुत्त के उल्लेख जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। जैन परम्परा में रामपुत्त का एक अध्ययन ऋषिभाषित में आज भी उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सूत्रकृतांग में भी इनके नाम का निर्दे श है। अंतकृतदृशा की प्राचीन विषय वस्तु में भी रामपुत्त का एक अध्ययन था, इसका उल्लेख स्थानांग सूत्र में मिलता है। इसी प्रकार बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी रामपुत्त के उल्लेख हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि बुद्ध और महावीर से पूर्व भी साक्षीभाव, विपश्यना और प्रेक्षा की यह साधना पद्धति जीवित थी। यह तो स्पष्ट है कि विपश्यना की यह साधना पद्धति बुद्ध से पूर्व की है। विपश्यना जैसे कि उसके नाम से ही स्पष्ट है कि वह दृष्टाभाव की साधना है। प्रेक्षा या साक्षीभाव की साधना को भी इसी का एक रूप माना जा सकता है।

ज्ञातादृष्टाना आत्मा या चित्त-सत्ता का स्वभाव है यदि व्यक्ति की चेतना दृष्टाभाव

में अवस्थित रहे, तो उसके दो परिणाम मिल सकते हैं। प्रथम तो यह कि चित्त के विकल्प समाप्त हो जाते हैं और यदि वे होते भी हैं तो आत्मा या चित्त मात्र उनका साक्षी होता, कर्त्ता नहीं होता। इस प्रकार विकल्प समाप्त होकर निर्विकल्प बोध की स्थिति बनती जाती हैं। इसमें चित्तवृत्ति की सजगता के परिणाम स्वरूप निर्विकल्प स्थिति न होकर के निर्विकल्प बोध होता है।

वस्तुतः समस्त दुःखों का मूल कारण चित्त के विकल्प ही हैं और ध्यान विकल्प-मुक्ति का प्रयास है। विकल्प-मुक्ति ज्ञाता-दृष्टा भाव की स्थिति में ही संभव है। विपश्यना मूलतः साक्षी भाव या ज्ञाता दृष्टा भाव में रहने की साधना है। जैसे-जैसे आत्म सजगता (Self awareness) बढ़ती जाती है व्यक्ति विकल्पों से मुक्त हो जाता है और पूर्ण निर्विकल्प-बोध की अवस्था की ओर बढ़ता जाता है। पूर्ण निर्विकल्पता या अप्रमत्त दशा में विकल्प समाप्त हो जाते हैं, स्व-पर का भेद-विज्ञान स्पष्ट हो जाता है। 'पर' या अन्य पर स्व अर्थात् अपनेपन का आरोपण समाप्त हो जाता है विकल्प समाप्त हो जाते हैं। ममत्व समाप्त होकर समत्व प्रकट हो जाता है। वीतराग या वीततृष्ण दशा प्रकट होती है। फलतः दुःख समाप्त हो जाते हैं। ममत्व समाप्त होकर समत्व प्रकट हो जाता है। वीतराग या वीततृष्ण दशा प्रकट होती है। फलतः दुःख समाप्त हो जाते हैं, कर्म अकर्म बन जाता है।

यही परमसुख की अवस्था है। यह परमसुख मूलतः कोई विधि रूप स्थिति या किसी उपलब्धता की स्थिति नहीं है, अपितु विकल्पों के समाप्त होने से तद्जन्य दुःख की विमुक्ति है। जैसे किसी को 105 डिग्री बुखार हो और वह बुखार उतर जाए, शरीर का तापमान सामान्य हो जाए, तो वह सुख की अनुभूति करता है। उसी प्रकार विपश्यना से चित्त विकल्प मुक्त हो जाता है। चित्त में राग द्वेष और मोह की गांठ समाप्त हो जाती है। चित्त परम शांति का अनुभव करता है, इसी को पं. कन्हैयालालजी ने परमसुख की अवस्था कहा है। वस्तुतः वह पूर्णतः दुःख विमुक्ति की अवस्था है। अतः पं. कन्हैयालालजी का यह कथन ठीक ही है कि विपश्यना परम सुख की अवस्था है।

विपश्यना परम सुख कैसे है? इसे स्पष्ट करते हुए पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा लिखते हैं कि दुःखों का मूल विषय भोगों के माध्यम से सुख के मिलने की इच्छा करना या मृगतृष्णा है। संसार से, 'पर' से, विनाशी तत्त्वों से सुख लेने की यह कामना ही दुःख का मूल है। क्योंकि भोग की तृष्णा से समस्त दुःखों एवं दोषों की उत्पत्ति होती है। उसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) विषय भोग की इच्छा या कामना उत्पन्न होते ही चित्त भोग्य वस्तु को पाने के या भोगने के लिए अशांत हो जाता है। चित्त की यह अशांति कामना पूरी नहीं होने तक बनी रहती है। इसे ही आधुनिक मनोविज्ञान में तनाव कहा गया है। तनाव की उपस्थिति दुःख ही है।

(2) भोगेच्छा की पूर्त्ति 'पर-पदार्थों' की प्राप्ति पर निर्भर है और यह 'पर-पदार्थों' की प्राप्ति भोगाकांक्षी व्यक्ति को पराधीन बना देती है और जहां पराधीनता है, वहां दुःख है। विपश्यना के माध्यम से यह 'पर' की अपेक्षा या पराधीनता समाप्त होती है। अतः विपश्यना परम सुख है।

(3) भागेच्छा की पूर्त्ति जड़ पदार्थों से होती है, जो बाह्य जगत् में स्थित है। इसमें चेतना बहिर्मुखी हो जाती है। विपश्यना इस बहिर्मुखी चेतना को स्वाभिमुख बनाती है, अतः विपश्यना परम सुख है।

(4) विषयभोग की इच्छा 'पद-पदार्थों' के भोग पर आधारित है और यह भोगजन्य सुख क्षणिक है, अनित्य है और विनाशी है अतः उसके विनाश का काल आने पर वह भोग सुख दुःख में बदल जाता है। भगवान बुद्ध ने भी कहा था कि जो क्षणिक है, वे दुःख रूप हैं और जो दुःख रूप हैं, वे अनात्म हैं अपने नहीं है, विपश्यना इन क्षणिक और नश्वर बाह्य-पदार्थों पर ममत्व के मिथ्या-आरोपण को समाप्त करती है, इसीलिए वह परम सुख है।

जैन ग्रंथ उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि पर-पदार्थों के भोग में सुख मानना एक मिथ्या धारणा है और जो दुःख रूप है। क्योंकि भोग के लिए प्रथम तो उन 'पर-पदार्थों' को उपलब्ध करना कठिन होता है अतः उनकी चाह और उनको पाने के प्रयास दोनों ही दुःख रूप होते हैं। यदि किसी भी प्रकार से वे उपलब्ध भी कर लिए जाए, तो उनके संरक्षण की चाह बनी रहती है और वह भी दुःख रूप होती है। दूसरे संरक्षण की चाह के साथ उनके वियोग की संभावना भी चेतना में बनी रहती है, अतः चेतना निराकुल नहीं रह पाती। इसके साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी सत्य है कि हम भोगाकांक्षा की प्रिय वस्तु के संरक्षण की भावना में इतने डूब जाते हैं कि उसका संरक्षण ही करते रहते हैं उसके भोग को भूल जाते हैं। संक्षेप में कहें तो भोग्य विषयों की प्राप्ति दुःख रूप होती है, प्राप्त हो जाने पर, उनका वियोग भी दुःख रूप होता है और संयोग की अवस्था में उसके वियोग की चिंता भी दुःख रूप होती है। अतः दुःख-विमुक्ति के लिए उनके प्रति तटस्थता

या माध्यस्थ भाव अपेक्षित है और विपश्यना हमें इसी माध्यस्थ-भाव या वीतरागता शिक्षा देती है। अतः विपश्यना की साधना वस्तुतः परमसुख की साधना है। इस प्रकार यह तो निश्चित है कि यदि हम निर्वैषयिक सुख को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें विपश्यना, प्रेक्षा या साक्षी भाव की साधना करना ही होगी। विपश्यना, प्रेक्षा या साक्षी-भाव चाहे शब्दों में भिन्न-भिन्न हो किंतु उनका मूल लक्ष्य निर्विकल्प-बोध ही है और वही समस्त जागति दुःखों के निराकरण का मूलमंत्र है और इसी के परमसुख या निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है।

निर्वाण परमसुख है किंतु यह निर्वाण है क्या? तृष्णा रूपि आग को बुझ जाना है निर्वाण? विपश्यना इस तृष्णा की आग को समाप्त करने की कला है। तृष्णा 'पर' पदार्थों की चाह है, यह 'पर' को पाने की चाह ही काम-तृष्णा है। अनात्म (जो अपना नहीं है) को अपना मानने की मिथ्याधारणा, उस पर स्वत्व आरोपण करने की मिथ्या अपेक्षा और उसके संयोग की चाह राग-जन्य तृष्णा है, इसे 'भवतृष्णा' भी कहते हैं। यह होने की इच्छा है। प्रतिकूल के निराकरण की चाह, उसके वियोग की चाह यह द्वेष रूप है। साधक को परमसुख की प्राप्ति के लिए इन दोनों से बचना होगा। बौद्ध परम्परा में तृष्णा के ये तीनों प्रकार अर्थात् - 1 कामतृष्णा, 2 भवतृष्णा और 3 विभवतृष्णा दुःख रूप है। इन तीनों तृष्णाओं से मुक्त होकर आत्म-सजगता में जीना ही विपश्यना है और दुःख विमुक्ति और परम सुख की प्राप्ति का मार्ग है। क्योंकि तृष्णा स्वतः दुःख रूप है, क्योंकि वह चाह या तनाव रूप है, साथ ही वह दुःख का कारण भी है अतः परमसुख की प्राप्ति के लिए तृष्णा का उच्छेद आवश्यक है इसी बात को पं. कन्हैयालालजी ने प्रस्तुत कृति के चतुर्थ विभाग 'दुःख समुदय' में विस्तार से समझाया है। वे लिखते हैं कि 'वैषयिक सुख की कामना शेष नहीं रहने पर कुछ भी पाना और जानना शेष नहीं रहता और इस प्रकार कामना, ममता, अहंमता नहीं रहने पर निर्विकल्प बोध हो जाता है।' किसी कवि ने भी कहा है।

चाह नहीं, चिंता नहीं, मनवा भया बैपरवाह !
जिसको कुछ नहीं चाहिए, वह शहंशाहों की शहंशाह ।।

विपश्यना की इस साधना का मूल लक्ष्य चित्त-विशुद्धि है। यह चेतना की विषय-विकल्पों से रहितता की स्थिति है। इससे चित्त शांत विकल्प रहित सुख की अनुभूति में लीन रहता है। बौद्ध परम्परा में विपश्यना की साधना के जिन अंगों का विवेचन है, उनमें

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार ब्रह्म-विहारों, दान, शील, शांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा इन छः पारममिताओं की चर्चा की है। इनके साथ ही ध्यान के पांच अंगों का भी उल्लेख है- वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता या समाधि। विपश्यना का साधक इन चार ब्रह्म-विहारों, छः पारमिताओं और पांच ध्यानांगों से चेतना को विकार मुक्त करके परमसुख की अनुभूति करता है।

वह परमसुख कैसे प्राप्त हो? इसे स्पष्ट करते हुए पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा का कथन है कि कामनाओं के त्याग से निष्कामदशा प्राप्त होने पर, जो शांति मिलती है, वही अक्षय सुख है, क्योंकि वह दुःख का पूर्ण अभाव है तथा पुनः कामना के उत्पन्न नहीं होने से वह सुख सदैव बना रहता है, क्षीण नहीं होता। इसी प्रकार ममता के त्याग से शरीर और संसार से संबंध विच्छेद हो जाने पर उस चेतसिक सुख में कोई बाधा नहीं रहती यह भवतृष्णा या रोग के समाप्त होने पर होता है। अहंकार या मोह के त्याग से द्वेष का उपशमन हो जाता है, मेरे और पराये का भाव समाप्त हो जाता है। इससे जो शांति मिलती है वह निरंतर बनी रहती है। विपश्यना की साधना में तत्त्वों के प्रति विद्वेष का भाव समाप्त हो जाता है और इसलिए विपश्यना को परमसुख कहा गया है। अतः पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा कृत इस पुस्तक का यह नामकरण समुचित ही प्रतीत होता है।

इस परमसुख की प्राप्ति के लिए विपश्यना की साधना कैसे की जाए इसे स्पष्ट करते हुए उसके निम्न पांच अंग बतलाए गए हैं - **1. अनापनसति** अर्थात् श्वासोच्छवास की स्मृति या उसके प्रति सजगता, यह विपश्यना की प्रथम भूमिका है। इसमें चित्तवृत्ति की एकाग्रता एवं सजगता का अभ्यास होने से विकल्प समाप्त होने लगते हैं। उसके पश्चात **काय-विपश्यना** का क्रम आता है। **काय-विपश्यना** में शरीर के भीतर क्या घटनाएं घटित हो रही हैं, उन्हें सजगतापूर्वक देखा जाता है। इससे शरीर से सम्बंधित मोह छूट जाता है। अन्य दर्शनों के संदर्भ में कहें तो आत्म-अनात्म का विवेक जाग्रत हो जाता है। तीसरे क्रम पर **वेदना-विपश्यना** होती है। यहां संवेदनाएं क्षणिक एवं परिवर्तनशील होने से उनकी अनात्मता और क्षणिकता का बोध हो जाता है और इससे उनके प्रति रागभाव या ममता समाप्त हो जाती है। विपश्यना की साधना में **वेदना-विपश्यना** के पश्चात् **चित्त-विपश्यना** का क्रम आता है। इसमें व्यक्ति अपने ही चित्त की वृत्तियों को देखता है, चित्तवृत्तियों के प्रति सजगता होने से मन के भीतरी तल पर स्थित राग, द्वेष और मोह की ग्रंथियां खुलने लगती है। इनके प्रति सजगता का भाव एक ओर नवीन ग्रंथियों के

निर्माण को रोकता है तो दूसरी ओर पूर्व बद्ध ग्रंथियों के खुलने से राग-द्वेष जन्य विकार दूर होने लगते हैं और व्यक्ति निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त होता है। अंत में **धर्म-विपश्यना** का का क्रम आता है, इसमें संसार की वस्तुओं के क्षणिक और अनात्म स्वरूप का बोध हो जाता है। यहां **धर्म-विपश्यना** का मतलब वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भी है। इससे नई कामनाओं का जन्म भी नहीं होता है, फलतः राग-द्वेष की ग्रंथियां समाप्त हो जाती है। वीतराग और वीत-तृष्ण अवस्था का प्रकटण होता है। अन्य दर्शनों की भाषा में कहे तो कैवल्य की प्राप्ति और उसी में रमण करने की स्थिति है।

इस विपश्यना की साधना में करणीय कुछ भी नहीं होता है, केवल अपने को साक्षीभाव या ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थित रखना पड़ता है। आत्म सजगता की यह दशा व्यक्ति के विकार विमुक्ति की दशा है। ऐसा साधक जब तक संसार में रहता है, तब तक देहातीत होकर जीता है और शरीर के छूटने पर निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त होता है, उसका संसार में पुनरागमन सम्भव नहीं होता, क्योंकि इसमें भोगकांक्षा या रागद्वेष के तत्त्व ही नहीं होते हैं। सामान्य रूप से कहे तो विपश्यना की साधना राग-द्वेष की ग्रंथियों को खोलने की और चित्त-विकारों को दूर करने की साधना है, जो व्यक्ति को परमसुख की प्राप्ति में साधनभत होती है।

पं. कन्हैयालाल लोढ़ा ने परमसुख विपश्यना नामक प्रस्तुत कृति में विपश्यना के सम्यक् स्वरूप को अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया है, यह केवल शाब्दिक विमर्श नहीं है, एक स्वानुभूत तथ्य है।

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

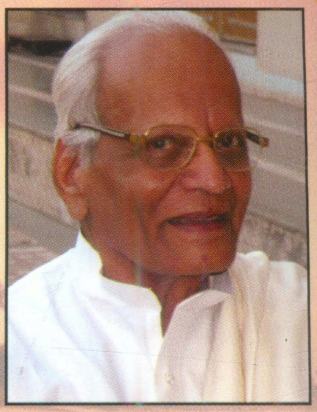

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा:	1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा :	1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा :	1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल
	सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र)
	पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720